उसका बचपन

भारतीय यथार्थ बनाम आदर्श बचपन की धारणा

कंचन शर्मा

बचपन पर चर्चा करते ही 14–15 वर्ष तक के बालक–बालिकाओं के मुस्कराते चेहरे सामने आ जाते हैं। इसी के साथ स्कूल–शिक्षा व खेल की अनिवार्यता के आग्रह के तहत अभिभावकों और शिक्षकों की देखरेख में शारीरिक, मानसिक और संवेदनात्मक रूप से बच्चों के अपरिपक्व से परिपक्व होने की प्रक्रिया भी विमर्श के केंद्र में आ जाती है। बचपन की यह एक सामान्य आदर्श तस्वीर है जो विभिन्न समाज–वैज्ञानिक विमर्शों, साहित्यिक रचनाओं, अख़बारों, विज्ञापनों आदि के माध्यम से पोषित की जाती है। इसी आदर्श तस्वीर को क़ानूनी और शासकीय पुष्टि देने के लिए मनोशारीरिक अपरिपक्वता को आधार बनाया जाता है। कुल मिला कर बचपन से संबंधित इस गढ़ी गयी सामान्य समझ की विविध सामग्री से एक सार्वभौम क़िस्म के आदर्श की रचना की गयी है। आदर्श की इस संरचना को बनाए रखने के लिए बालक व बचपन से जुड़े सभी आयामों को भी एक निर्धारित छवि के ढाँचे में समायोजित कर दिया जाता है। यह छवि तय कर देती है कि बच्चे का मतलब है खेल–कूद की गतिविधियों में लिप्त रहने वाला व जीवन की मूल आवश्यकताओं के लिए वयस्कों पर निर्भर एक नादान–नासमझ प्राणी। इसी क्रम में बचपन के बाद आने वाली किशोरावस्था को जाने–अनजाने खेलकूद के साथ ही अपनी भावी भूमिका और अस्मिता खोजने में व्यय होने वाले समय और इसके परिणामस्वरूप वयस्कता की तरफ़ जाने वाले व्यक्ति के रूप में देखा जाता है। यह लेख बचपन की इसी लगातार स्थापित की जा रही/की जा चुकी छवि को प्रश्नांकित करने का प्रयास करता है। इसी उद्देश्य के लिए लेख में बचपन की थमाई गयी आदर्श छवि के बरअक्स भारतीय ज़मीन पर व्यवहार में निर्मित होते बचपन के विविध रूपों को समझने के साथ–साथ इस अंतर्विरोध के शैक्षिक निहितार्थों को समझने का प्रयास किया गया है। लेख की सामग्री मेरे कुछ अवलोकनों के साथ–साथ बचपन संबंधी अनुसंधानों और कुछ विख्यात विद्वानों द्वारा प्रदत्त अंतर्दृष्टियों से मिल कर बनी है।

लेख के पहले हिस्से में दो अनुभवसिद्ध अवलोकन हैं जिनके ज़रिये मुझे इस विषयवस्तु की तरफ़ जाने का मौक़ा मिला। दूसरा हिस्सा बालक कौन है जैसे प्रश्न से जुड़ी क़ानूनी समझ और उलझन पर आधारित है। तीसरा हिस्सा बचपन से संबंधित विमर्श की ऐतिहासिक पड़ताल करता है, और चौथे

सब्ज़ी बाज़ार में बच्चे का अपना ठेला था। थोड़ी दूरी पर उसके पिता अपना अलग ठेला लगाते थे। यह बालक कक्षा चार में पढ़ता था व शाम को ठेला लगाता था। पैसे के लेन-देन में होशियार और मोल-भाव में एकदम वयस्क की भाँति व्यवहार-कुशल था वह बच्चा। ... प्रश्न यह है कि क्या बच्चे को एक आर्थिक प्राणी की तरह देखा जा सकता है? ...

हिस्से के अंतर्गत औपनिवेशिक विमर्श के प्रभाव में बचपन के बदलते स्वरूप को भारत के विशेष संदर्भ में समझने का प्रयास किया गया है। आदर्श बचपन की छवि को मीडिया के ज़रिये भी स्थापित किया जाता है। यह प्रक्रिया किस प्रकार चलती है— लेख के पाँचवें हिस्से में प्रकाश डाला गया है। लेख का छठा हिस्सा भारतीय संदर्भों में निर्मित होने वाले बचपन की तस्वीर उजागर करते हुए उसकी आदर्श छवि को चुनौती देता है और सातवें हिस्से में आदर्श छवि के बने रहने के कारण किन-किन शिक्षा संबंधी दिक़्क़तों का सामना भारतीय बच्चों को करना पड़ रहा है और ज्ञान की वैधता की राजनीति इससे किस प्रकार पुष्ट होती है— इसका ज़िक्र है। लेख के अंतिम हिस्से में उपसंहार है।

अनुभवसिद्ध अवलोकन बनाम बचपन की रूढ़ अवधारणा

इस लेख की शुरुआत मैं अपने दो अनुभवों को साझा करने के साथ करना चाहूँगी, क्योंकि यही वे अनुभव हैं जिनसे प्रभावित होकर मेरे तत्संबंधित विचारों को नयी दिशा प्राप्त हुई। इस तरफ़ बढ़ते हुए मेरे क़दम अनेक ऐसे प्रश्नों से जूझने की तरफ़ ले गये, जो मेरी पूर्व-निर्धारित अवधारणाओं व विचारों पर सवालिया निशान लगा देते थे।

मेरा पहला अनुभव उत्तराखण्ड के पौढ़ी ज़िले के एक ढाबे में काम करने वाले दस वर्षीय बालक से जुड़ा हुआ है। यह बालक मूलत: बिहार का था। अपने परिवार व स्कूल जैसी औपचारिक संस्था से दूर यह बालक ढाबे में आने वाले लोगों से खाने का ऑर्डर लेने और उन्हें परोसने का काम किया करता था। उससे बातें करके मुझे यह अचरजपूर्ण जानकारी मिली कि वह अपनी इस स्थिति को ले कर बिल्कुल असहज या दुखी नहीं है। उसका मालिक उसे खाना मुहैया कराता है और रहने की सुविधा देता है। साथ ही वह हर महीने तीन हज़ार रुपये उसके घर भिजवा देता है। उस दस वर्षीय बालक ने

एक वयस्क की भाँति सहज व सरल तरीक़े के अपनी बातें मेरे सामने रखीं। इस आयु में उसकी परिपक्वता देख कर मुझे हैरानी भी हुई और यह सोच कर मन दुखी भी हुआ कि वह अपना बचपन नहीं जी पा रहा है। मेरा दूसरा अनुभव दिल्ली के सब्ज़ी बाज़ार में सब्ज़ी बेच रहे बालक के साथ था। इस अनुभव से पहले मैं पूरी तरह से बाल-मज़दूरी के विरुद्ध अभियान चलाने/लिखने का मन बनाए हुए थी। पर मेरे दूसरे अनुभव ने मेरे सोच पर उल्टा असर डाला। सब्ज़ी बाज़ार में बच्चे का अपना ठेला था। थोड़ी दूरी पर उसके पिता अपना अलग ठेला लगाते थे। यह बालक कक्षा चार में पढ़ता था व शाम को ठेला लगाता था। पैसे के लेन-देन में होशियार और मोल-भाव में एकदम वयस्क की भाँति व्यवहार-कुशल था वह बच्चा। मेरे पहले व दूसरे अनुभव के मध्य मुख्य अंतर यह था कि इन दोनों बालकों के बचपन में एक के साथ काम की ज़िम्मेदारी के साथ स्कूल जैसी संस्था थी। अभिभावकों की उपस्थिति भी थी। लेकिन दूसरे बालक की ज़िंदगी में इन दोनों का अभाव था। यही वह मूल अंतर था जिसके कारण मैं एक स्थिति में बालक के प्रति बेचैनी का शिकार थी, परंतु दूसरी स्थिति में सहजता महसूस कर रही थी।[1]

यही वे दो अनुभव थे जिनसे मैं सोचने पर मजबूर हुई कि क्या वास्तव में मैं बचपन को किसी एक ही निश्चित ढाँचे के अंतर्गत देखने का प्रयास कर रही हूँ? (इससे संबंधित कुछ और अनुभव सिद्ध अवलोकनों का लेख में आगे विश्लेषण किया गया है।) मुझे उस निश्चित ढाँचे से कुछ अलग दिखने वाला यथार्थ ग़लत, अधूरा, अन्यायपूर्ण और ग़ैर-क़ानूनी क्यों लग रहा है? कहीं मुझे अपने चिंतन के ढाँचे को विस्तृत और गहरा करने की आवश्यकता तो नहीं है? क्या मुझे अपनी संवेदनशीलता को फिर से परखते हुए बचपन के उस ढाँचे पर प्रश्न नहीं उठाना चाहिए जिसमें स्कूल की मौजूदगी अनिवार्य और वर्चस्वी क़िस्म की होती है? क्या मुझे अपने ज्ञान या पूर्व-निर्धारित अवधारणाओं पर सवालिया निशान नहीं लगाना चाहिए? इन दोनों बच्चों से मिलने के बाद मैंने ख़ुद को इन सवालों से घिरा हुआ पाया।

दरअसल, इन प्रश्नों में एक ऐसा सवाल भी शामिल था जिसका समाधान इस शोध की शुरुआत से पहले ही हो जाना चाहिए था। यह प्रश्न था : क्या बच्चे को एक आर्थिक प्राणी की तरह देखा जा सकता है? आमतौर पर बचपन को वह चरण माना जाता है जब बच्चा वयस्कों की दुनिया में जैविक रूप से विकसित होने के साथ कुछ मूल्यों-आस्थाओं को आत्मसात् कर रहा होता है। बचपन को कौशल-प्रशिक्षण व सामाजिक-व्यवहार प्रशिक्षण से जोड़ कर भी देखा जाता है। इस तरह बचपन को समझने के मोटे तौर पर दो आधार सामने आते हैं— पहला जीव-वैज्ञानिक दूसरा मनोवैज्ञानिक।

जैविक विकास का सिद्धांत बताता है कि बच्चा किस प्रकार गर्भ में बीज के रूप में आरम्भ होते हुए शिशु का आकार लेता है और जन्म के पश्चात् किस प्रकार उसके शरीर के अन्य अंगों का विकास होता है। एक क्रम का सहारा लेते हुए समझाया जाता है कि प्रत्येक माह में एक शिशु की देह में क्या-क्या बदलाव आएँगे। इसी क्रम पर आधारित चित्र या चार्ट किसी भी चिकित्सालय की दीवार पर लगा देखा जा सकता है। ज्याँ पियाजे ने अपने ही संतानों पर किये प्रयोगों के आधार पर जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया था उसमें बच्चे के विकास को चार चरणों में बाँट कर देखा गया है— पहला सेंसरी मोटर स्टेज, दूसरा प्री-ऑपरेशनल स्टेज, तीसरा ऑपरेशनल स्टेज, चौथा कांक्रीट ऑपरेशनल स्टेज।[2] इस संज्ञानात्मक विकास सिद्धांत में दावा किया गया है कि बच्चों का शारीरिक व मानसिक

---

[1] पौढ़ी का मेरा यह अवलोकन 2014 का है जब मैं हेमवतीनंदन बहुगुणा विश्वविद्यालय में असिस्टेंट प्रोफ़ेसर के पद पर कार्यरत थी. दिल्ली का अवलोकन 2015 में करने का मौक़ा मिला. इसी लेख के आगे के हिस्सों में जिस एथनोग्राफ़ी का ज़िक्र है वह 2015 में ही कुम्हार और लुहार समुदाय के बच्चों के बीच एक प्रोजेक्ट के तहत सम्पन्न हुई.

[2] ज्याँ पियाजे (1953).

विकास बिना कुछ चरणों से गुज़रे सम्भव नहीं है। इस जैविक सिद्धांत की सीमा यह है कि यह बच्चों की सामर्थ्य के विकास में सामाजिक-सांस्कृतिक आयामों को शामिल नहीं करता, जबकि तत्संबंधी चिंतन के नये प्रतिमान बच्चों के समाजशात्रीय और मानवशास्त्रीय अध्ययन द्वारा बचपन की सामाजिक निर्मिति और समाज में बच्चों की भूमिकाओं को प्रकट करने में विश्वास करते हैं। दूसरी तरफ़ मनोवैज्ञानिक सिद्धांत में इस आयाम पर ध्यान दिया गया है कि बच्चा सीखता किस प्रकार है और किस तरह उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इन सिद्धांतों पर फ्रॉयड, एडलर, वाटसन, स्किनर, थार्नडाइक, हल, और कोहलर इत्यादि की छाप है। [3] मुख्यत: सीखने का व्यवहारवादी सिद्धांत आज भी बाल-मनोविज्ञान पर प्रभावी दिखता है। यह व्यवहारवादी सिद्धांत जिस सामग्री पर आधारित है, उसे ज़्यादातर जानवरों (कुत्ते, बिल्ली, चूहे आदि) पर किये गये अनुसंधानों से हासिल किया गया है। इन्हीं प्रयोगों के परिणामों को बच्चों के अधिगम सिद्धांत के तौर पर प्रतिपादित किया गया है।

बॉयडन बताते हैं कि जैविक और मनोवैज्ञानिक पहलुओं के साथ बचपन को बाँधने वाला विमर्श पश्चिमी विद्वत्ता के केंद्र में है। इस पश्चिमी विद्वत्ता को ही बचपन की सार्वभौम छवि के रूप में ग्रहण कर लिया गया है, और इसी के परिणामस्वरूप यह भी मान लिया गया है कि उसे अन्य समाजों पर भी लागू किया जा सकता है। यह विमर्श बच्चे को एक पर-निर्भर हस्ती के तौर पर देखता है जिसे स्नेह, सुरक्षा, प्रशिक्षण और समाजीकरण की आवश्यकता है।[4] ज़ाहिर है कि इस पूरे विमर्श से बच्चे को एक आर्थिक प्राणी के रूप में देखने का आयाम नदारद है। हमें थमाया गया यह विमर्श मानने से इंकार करता है कि कई समाजों में बच्चे पारिवारिक ज़िम्मेदारियाँ पूरा करने में अपनी प्रासंगिक भूमिका निभाते रहे हैं और यह स्थिति आज भी जारी है। मसलन, शिकार करना, पशुओं को चराने ले जाना, पानी भरना, जलाने हेतु लकड़ियाँ जमा करना इत्यादि। इसके साथ ही शहरों में भी अनेक बच्चे कारख़ानों, उद्योगों और खेतों में काम करके परिवार चलाने में मदद करते हैं। लेकिन, विमर्श के संसार में होता यह है कि न केवल इन भूमिकाओं को आपत्तिजनक मान कर ऐसे बच्चों को अन्याय के शिकार या वंचितों की श्रेणी में रख दिया जाता है, बल्कि समाज भी अपनी तरफ़ से बच्चों द्वारा निभाई जाने वाली इन ज़िम्मेदारियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए उन्हें कमतर मानता है। साथ ही जो कार्य बच्चे करते भी हैं, उसका पूरा श्रेय (आर्थिक और बौद्धिक) भी उन्हें प्रदान नहीं किया जाता।

मसलन, समाज में बच्चों की देखभाल करना माँ का काम माना जाता है, भले ही जब पहला बड़ा बच्चा इस काम में काफ़ी समय दे रहा हो। फिर भी इसका पूरा श्रेय माँ को ही जाता है। इसी तरह समाज समस्त कार्यों को वयस्क महिलाओं और पुरुषों के मध्य विभाजित करके ही देखता और श्रेय देता है। परिणामस्वरूप इस तरह बच्चों द्वारा किये जाने वाले कामों का श्रेय भी वयस्कों को मिलता रहता है। वयस्कों की इस दुनिया में बच्चे ज़्यादा से ज़्यादा प्रशिक्षु की भूमिका में परिभाषित कर दिये जाते हैं। इस प्रवृति का परिणाम यह भी होता है कि उनके हिस्से में न तो श्रेय आता है और न ही पूरा मेहनताना। इसी तरह अभिभावकगण बच्चों द्वारा किये जा रहे कामों को प्रशिक्षण या चरित्र निर्माण के तौर पर व्याख्यायित करते हैं, न कि किसी उत्पादक गतिविधि के तौर पर। केन्या में हुआ एक अध्ययन बताता है कि ग्रामीण इलाक़ों में नौ से सोलह वर्ष के केन्याई बच्चे अपनी दिनचर्या का बड़ा हिस्सा काम करते हुए व्यतीत करते हैं। शैक्षिक गतिविधियों समेत केन्याई लड़कियाँ सप्ताह में 41 घंटे काम करती हैं, और लड़के 35 घंटे। यह वास्तविकता बहुत से दूसरे देशों का भी यथार्थ है, लेकिन इसे ठुकराते हुए आदर्श रूप से माना यह जाता है कि बच्चों को परिवार की आर्थिक गतिविधियों में हिस्सा नहीं लेना चाहिए। एक आर्थिक प्राणी के तौर पर देखने के बजाय उनका

---

[3] विक्टोरिया फ्राइज़ रीडर (2014).
[4] जे. बॉयडन (1990).

छवि-निर्माण स्नेह प्राप्तकर्ता के रूप में ही किया जाता है। बच्चे एक तरह से वयस्कों की सम्पत्ति के तौर पर पेश किये जाते हैं। वयस्कों के स्नेह को पाने का सबसे उचित स्थान उनके लिए घर माना जाता है। यही है वह परिदृश्य और विमर्श जिसके तहत बच्चे भी स्त्रियों के समान सार्वजनिक दायरे से हटा कर निजी दायरे में बाँध दिये जाते हैं। उनके द्वारा की जा रही गतिविधियाँ या तो अदृश्य हो जाती हैं या कर दी जाती हैं।[5]

फिलिप एरीज़ के अनुसार आधुनिक युग में बचपन की जो विमर्शी अवधारणा रूढ़ हो गयी है, वैसी इतिहास की अन्य अवधियों में नहीं थी। सोलहवीं शताब्दी तक पश्चिम में बचपन को वयस्क से अलग करके वर्गीकृत नहीं किया जाता था। मध्य काल में युरोपीय बच्चों से वयस्कों की भाँति ही व्यवहार किया जाता और उनसे अपेक्षाएँ भी उसी तरह की रखी जाती थीं। मध्यकालीन बच्चों की पोशाक उस ज़माने के वयस्कों से अधिक भिन्न नहीं होती थी। बचपन की समझ के प्रति बड़ा बदलाव मध्यकाल के पश्चात् देखने को मिलता है। एरीज़ की इस अवधारणा पर आगे चल कर हम कुछ और प्रकाश डालेंगे। उन्नीसवीं शताब्दी में बालकों के समाजीकरण के प्रति एक अलग रुख़ पनपा और उनके लालन-पालन की भिन्न संहिताएँ लागू की जाने लगीं। बीसवीं सदी आते-आते बचपन को मनुष्य जीवन का एक विशिष्ट चरण माना जाने लगा और वयस्कों की ज़रूरतों से भिन्न मानते हुए बच्चों की आवश्यकताओं को एक ख़ास तरह की अहमियत दी जाने लगी। उसी के अनुसार उनकी पूर्ति के बंदोबस्त भी किये जाने लगे। इन्हीं बंदोबस्तों को आज हम बाज़ार से लेकर शिक्षा-व्यवस्था तक विभिन्न विकसित रूपों में देख सकते हैं।[6]

ज़ाहिर है कि बच्चे को एक आर्थिक प्राणी के तौर पर देखने का आग्रह थमाई गयी मौजूदा पश्चिमी विद्वत्ता के विपरीत है। मैं जानती हूँ कि मैं यह कहते हुए एक ख़तरा उठा रही हूँ। मेरे ऊपर बाल-श्रम के उदात्तीकरण के आरोप लग सकता है। पर इसके बावजूब मैं इस पहलू पर ज़ोर देना चाहती हूँ कि बच्चों को अनिवार्य तौर पर मिलने वाले स्नेह और देखभाल का आग्रह उन्हें एक सक्रिय आर्थिक और उत्पादक प्राणी समझने और उस रूप में स्वीकार करने के आग्रह के ख़िलाफ़ नहीं होना चाहिए। मेरा सवाल यही है कि क्या बच्चों को विमर्श के इन दोनों संसारों का वासी नहीं समझा जा सकता? इसी प्रश्न के समाधान की कोशिश में मैंने निश्चित किया कि मुझे बालक होने के मायने व बचपन की अवधारणा को गहराई से समझने का प्रयास करना चाहिए। जब मैं अपने विचारों को जब अकादमिक लेख का रूप देने लगी, तो कई अन्य सवाल भी थे जो इस विषय के साथ जुड़ते चले गये। कुछ के जवाब मैंने पाए लेकिन कुछ जवाबों की तलाश आज भी जारी है।

बालक कौन है : एक क़ानूनी समझ और उलझन

बचपन के सैद्धांतिक पक्ष पर विचार करते ही प्रश्न उठता है कि आख़िर इस लिहाज़ से बालक किसे कहा जाना चाहिए? क्या इसे किसी निश्चित क़ानूनी परिभाषा की मदद से समझा जा सकता है, या समाज विशेष द्वारा स्थापित कोई धारणा इसका आधार है? क़ानूनी धरातल पर इस प्रश्न की जाँच करने से यह उभर कर आता है कि भारत के संदर्भ में यह प्रश्न विवादग्रस्त है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की बाल अधिकार संविदा बालक को जन्म से 18 वर्ष आयु तक परिभाषित करती है। इस पर भारत सरकार द्वारा 1992 में हस्ताक्षर किये जा चुके हैं।[7] लेकिन, इससे बेपरवाह हो कर भारत में अलग-अलग मुक़ामों पर बालक को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया गया है।

---

[5] जे. बॉयडन (1990), वही.

[6] फ़िलिप एरीज़ (1962).

[7] युनिसेफ़ (2009), *कन्वेंशन ऑन द राइट्स ऑफ़ द चाइल्ड,* http://www.unicef.org/crc/ पर उपलब्ध.

शैक्षिक गतिविधियों समेत केन्याई लड़कियाँ सप्ताह में 41 घंटे काम करती हैं, और लड़के 35 घंटे। यह वास्तविकता बहुत से दूसरे देशों का भी यथार्थ है, लेकिन इसे ठुकराते हुए आदर्श रूप से माना यह जाता है कि बच्चों को परिवार की आर्थिक गतिविधियों में हिस्सा नहीं लेना चाहिए।

मसलन, भारत में प्रत्येक दस साल बाद होने वाली जनगणना के समय चौदह वर्ष से कम के व्यक्ति को बालक के तौर पर गिना जाता है। इसी जनगणना के आधार पर यह बता दिया जाता है कि देश के कितने बच्चे स्कूलों से बाहर हैं और कितने साक्षर हैं। जबकि अंतर्राष्ट्रीय बाल-अधिकार संविदा अट्ठारह वर्ष तक शिक्षा प्रदान करने की बात करता है। दूसरा, बाल विवाह निषेध क़ानून एक लड़के को 21 वर्ष व एक लड़की को 18 वर्ष पूरी न होने तक बालक मान कर उनके विवाह का निषेध करता है। हालाँकि यहाँ पर भी लिंग आधार पर आयु निर्धारण के मध्य एक बड़ा अंतर देखने को मिलता है, एक बालिका को 18 वर्ष के बाद शारीरिक, मानसिक, संवेदनात्मक रूप से परिपक्व मान कर उसके विवाह की स्वीकृति मिल जाती है, वहीं बालक को तीन वर्ष अधिक तक अपरिपक्व मान कर 21 वर्ष के वर्ष बाद विवाह की स्वीकृति है। दूसरी तरफ़ व्यवहार में अनेक अनौपचारिक कार्यों में महिलाओं को शारीरिक, मानसिक रूप से कमतर मानते हुए कम पारिश्रमिक प्रदान किया जाता है।[8] परंतु स्वैच्छिक शारीरिक संबंध बनाने के मामले में क़ानून के मुताबिक़ 16 वर्ष की अविवाहित लड़की (15 वर्ष की विवाहित लड़की) को बालिग मान लिया गया है। बाल एवं महिला विकास मंत्रालय ने 1997 को अपनी रिपोर्ट में इन विसंगतियों की ओर इशारा किया है।[9] यदि खनन क़ानून के संदर्भ में चर्चा की जाए तो इसके अनुसार 18 वर्ष से कम आयु का कोई भी व्यक्ति खनन कार्य में नहीं लगाया जा सकता, परंतु बाल मज़दूर प्रतिबंध क़ानून कहता है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले व्यक्ति को बालक मान कर किसी भी कार्य में नहीं लगाया जाएगा। बाल-श्रम संबंधी ये दो क़ानून भी यह सोचने को विवश करते हैं कि आख़िर

[8] कंचन शर्मा, (2014).
[9] फ़ोकस रिपोर्ट (2006).

क्यों इन दो क़ानूनों के मध्य चार वर्ष का अंतर रखा गया। क्या मसला मात्र अपरिपक्वता का है या सस्ते श्रम की माँग का।

नीति-निर्देशक सिद्धांत 45, मौलिक अधिकार 21(क) और अनुच्छेद 326 को एक साथ देखने पर एक बहस का एक और दरवाज़ा खुलता है। अनुच्छेद 45 जन्म से छह वर्ष तक के बच्चों की सुरक्षा व शिक्षा की बात करता है, वहीं अनुच्छेद 326 अट्ठारह वर्ष से अधिक उम्र का होने पर मताधिकार दे देता है। मताधिकार से वंचित करने का मूल तर्क यह पेश किया जाता है कि ऐसी गुरुतर ज़िम्मेदारी निभाने के लिए जिस मानसिक/बौद्धिक समझ की ज़रूरत होती है, उसके लिए 18 वर्ष से कम के व्यक्ति अपरिपक्व होते है। यहाँ 'नासमझ-बालक' की परिभाषा पुष्ट होती दिखती है। इसी प्रकार शिक्षा का अधिकार 21(क) छह वर्ष से चौदह वर्ष के बच्चों की अनिवार्य व नि:शुल्क शिक्षा की आवाज़ बुलंद करता है, और 14 से 18 वर्ष के अपरिपक्व बच्चों को परिपक्व बनाने की दिशा में मौन रह जाता है, हालाँकि यह प्रावधान 14 वर्ष तक स्कूली शिक्षा को अनिवार्य रूप से प्रत्येक बच्चे के बचपन का हिस्सा बनाए जाने के लिए आमादा है। ऐसी स्थिति में बचपन की जो अवधारणा बनती है उसकी सीमा 18 वर्ष तक जाती है, परंतु अनुच्छेद 45 मात्र छह वर्ष के बालकों के संदर्भ में अपनी आवाज़ को बुलंद करता है। ज़ाहिर है कि बालक किसे कहा जाए, इसे लेकर भारत के विभिन्न संदर्भों में पर्याप्त मतवैभिन्य है। अभी तक भारतीय क़ानून बचपन की एक मुक़म्मल परिभाषा देने में असमर्थ है।

स्पष्ट है कि संविधान के तहत राज्य द्वारा अपनी सहूलियत व उपयोगिता के अनुसार बालक को अलग-अलग तरीक़े से परिभाषित किया गया है। एक बालक काम करने के लिए तो चौदह वर्ष के पश्चात् वयस्क बन जाता है, परंतु मताधिकार के लिए यह बालक ही गिना जाता है। खनन के लिए उसे अट्ठारह वर्ष का होना आवश्यक है, क्योंकि वहाँ भारी कार्य करना होता है जिसके लिए आवश्यक शारीरिक क्षमता ज़रूरी है। परंतु शिक्षा का अधिकार छह से चौदह वर्ष तक ही सीमित कर दिया जाता है। इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि भारतीय संविधान में सहूलियतों की दृष्टि से ही बालक को परिभाषित किया गया है।[10] उसूलन परिभाषाओं की यह विभिन्नता आपत्तिजनक नहीं है। राज्य की संस्था बचपन ही नहीं, कई अन्य दायरों की परिभाषा भी संदर्भ के अनुसार करती है। मसलन, नागरिकता की परिभाषा कोई एक समरूप या संदर्भ-निरपेक्ष नहीं है। इसी तरह विवाह क़ानून भी संस्कृति-निरपेक्ष नहीं हो सकता। आगे चल कर मैंने इस लेख में दिखाया है कि अपनी सांस्कृतिक-जातीय बहुलता के कारण भारतीय समाज विभिन्न प्रकार के बचपनों से सम्पन्न है। इसलिए राज्य से बचपन की कोई एक समरूप और संदर्भ-निरपेक्ष परिभाषा की अपेक्षा रखना अनुचित होगा। लेकिन, बचपन संबंधी परिभाषाओं की यह बहुलता जिन समस्याओं को जन्म देती है, उन पर अभी तक विस्तृत रूप से ग़ौर नहीं किया गया है। दिल्ली के बहुचर्चित निर्भया कांड ने अपराध के क्षेत्र बालक और वयस्क के बीच के क़ानून की दृष्टि से स्थापित अंतर पर पुनर्विचार करने की ज़रूरतों को रेखांकित किया है। इसी तरह बच्चों के श्रम और बच्चों की शिक्षा से संबंधित संहिताओं पर भी नये सिरे से ग़ौर किया जाना चाहिए।

बचपन : एक ऐतिहासिक पड़ताल

बालक को क़ानूनी दायरों की दृष्टि से समझने के मसले के अतिरिक्त यह समझा जाना भी आवश्यक है कि एक अवधारणा के रूप में बचपन का स्वरूप किस प्रकार से बदला और किस तरह बचपन की स्थापित आधुनिक धारणा का वर्चस्व स्थापित हुआ। यहाँ यह समझा जाना भी आवश्यक है कि कब और कैसे बचपन की 'शुद्ध छवि' में औपचारिक स्कूल अनिवार्य रूप से शामिल किया गया और श्रम को उसके दायरे से निष्काषित कर दिया गया। बचपन की अवधारणा का यह आधुनिक मॉडल बचपन

---

[10] कंचन शर्मा (2014), वही.

को एक जैविक निर्मिति के संकुचित साँचे में रखते हुए उसे निश्चित परिभाषाओं पर बाँधने पर आमादा है। इस प्रक्रिया में जो कुछ भी उस दायरे से बाहर व अलग है, वह बचपन के 'अशुद्ध रूप' की तरह प्रस्तुत किया जाता है। इस निश्चित ढाँचे की तह में वयस्क व बालक के मध्य एक पदसोपानीय संबंध को भी बल प्रदान किया जाता है जिसमें बालक की हैसियत को सामान्यत: वयस्कों से निचले पायदान पर रख कर व्यवहार किया जाता है। विश्व के अन्य भागों की भाँति ही दक्षिणी और मध्य एशियाई संस्कृतियों में भी बचपन की जो अवधारणा जड़ जमाए हुए है, उसमें स्त्रियों की भाँति बच्चों को भी वयस्कों की सम्पत्ति माना जाता है व उनसे एक निष्क्रिय प्राप्तकर्ता के तौर पर निर्देशों के पालन की अपेक्षा रखी जाती है। उनके लिए अनिवार्य कर दिया गया है कि वे अभिभावकों, शिक्षकों, अपने से बड़ों के निर्देशानुसार व्यवहार करें। इस एवज में उन्हें उनकी आर्थिक सुरक्षा की गारंटी मिलती है।

बचपन की अवधारणा पर हुई एतिहासिक पड़ताल बताती है कि बचपन की जिस छवि को राज्य, समाज, बाज़ारों द्वारा उभारा जा रहा है, वह इतिहास के पन्नों में अलग तरह से दर्ज है। बचपन के इस आधुनिक ढाँचे की ऐतिहासिक पड़ताल करते हुए एरीज़ ने दलील दी है कि शैशव की आधुनिक अवधारणा सत्रहवीं शताब्दी के युरोप की उपज है। इससे पहले बच्चे को वयस्क के लघु संस्करण की हैसियत प्राप्त थी, लेकिन यह लघुता आकार-संबंधी ही थी, न कि उसकी कम अहमियत का प्रतीक थी। लेकिन इसके बाद बच्चा वयस्क का कमतर संस्करण समझा जाने लगा। बच्चे को अबोध और भोला समझ कर शैशव की अवधि को और लम्बा करके बच्चे की शिक्षा ज़रूरी मान ली गयी। एरीज़ के अनुसार आधुनिक समाज की भाँति मध्ययुगीन समाज में बचपन का विचार ही अस्तित्व में नहीं था। सात वर्ष की आयु के पश्चात् बच्चे अभिभावकों के संरक्षण से मुक्त हो कर वयस्क समाज का हिस्सा बन जाते थे जहाँ उनके साथ वयस्कों के लघु रूप की तरह बर्ताव किया जाता था। एरीज़ अपने तर्कों को बल प्रदान करने के लिए आयु व विकास से संबंधित मध्यकालीन रचनाओं और मध्ययुगीन बच्चों व बचपन पर आधारित चित्रकारी को आधार बना कर यह देखने का प्रयास करते हैं कि मध्ययुगीन बालकों के कपड़े व खेलों के प्रकार कैसे हुआ करते थे। इस पड़ताल में वे पाते हैं कि मध्यकालीन कलाकार बच्चों को वयस्क के लघु रूप में चित्रित करते थे व नवजात शिशुओं को ही शिशुओं के कपड़े पहनाए जाते थे जिनमें सामान्य तौर पर लिंग-भेद नहीं होता था।[11]

बच्चे एक तरह से वयस्कों की सम्पत्ति के तौर पर पेश किये जाते हैं। वयस्कों के स्नेह को पाने का सबसे उचित स्थान उनके लिए घर माना जाता है। यही है वह परिदृश्य और विमर्श जिसके तहत बच्चे भी स्त्रियों के समान सार्वजनिक दायरे से हटा कर निजी दायरे में बाँध दिये जाते हैं। उनके द्वारा की जा रही गतिविधियाँ या तो अदृश्य हो जाती हैं या कर दी जाती हैं।

आधुनिक काल में बच्चों की देख-रेख, बचपन संबंधी विचार व बालकों के प्रति प्रतिक्रियाओं में बड़ा बदलाव आया है। एरीज़ इन बदलावों पर चर्चा करते हुए कहते हैं कि यह बदलाव दो रूपों में स्थापित होता है। पहला, आधुनिक एकल परिवारों में बच्चों द्वारा केंद्रीय स्थान ग्रहण करना एवं अभिभावकों द्वारा बच्चों को लाड़-प्यार करने और उनकी देखरेख से प्राप्त होने वाले आनंद को सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक मान्यता मिलने लगना। दूसरा, सामाजिक जीवन से जुड़े लेखकों व नैतिकतावादियों द्वारा लगातार इस विचार को प्रसारित करना कि बचपन अत्यंत कोमल/कमज़ोर

[11] फ़िलिप एरीज़ (1962).

अवस्था है जिसे सुरक्षित व सुधारे जाने की आवश्यकता है। इसी के तहत राज्य द्वारा अनिवार्य स्कूलिंग मुहैया कराने की ज़िम्मेदारी का सूत्रीकरण हुआ। आरम्भ में यह मात्र आभिजात्य वर्ग के लड़कों के लिए था, परंतु धीरे-धीरे आधुनिक समाज में यह वर्ग और लिंग के परे जाते हुए सभी के लिए अनिवार्य कर दिया गया।[12]

पश्चिम में अब तक प्रचलित हो चुके प्रगति के मतवाद का सीधा संबंध शैशव की इस नयी अवधारणा से था। इसके तहत बालक को एक ख़ाली स्लेट की तरह समझने का चलन बढ़ता चला गया। एक ऐसी स्लेट जिस पर वयस्कों के लिए अपनी सामाजिक और व्यक्तिगत संहिताओं की इबारत दर्ज करना लाज़िमी था। बचपन का मतलब था परिपक्वता का कमतर संस्करण, नीतिशास्त्रीय और उत्पादकता के लिहाज़ से हीन। इसी के साथ मनुष्य के बचपन से संबंधित धर्मशास्त्रीय विमर्श ने भी अपनी भूमिका निभाई। प्रोटेस्टेंट नीतिशास्त्र ने तो इसमें चालक का काम किया। इसी के तहत वयस्क पर बच्चे के बाक़ायदा समाजीकरण की ज़िम्मेदारी डाली गयी, ताकि उसे किसी भी तरह के पछतावे से मुक्त और अधम क़िस्म के पापत्व से बचाते हुए वयस्कता और परिपक्वता के कैल्विनिस्ट आदर्श के मुताबिक़ बड़ा किया जा सके। आशिस नंदी बताते हैं कि आधुनिक यूरोप के हाथों न केवल स्त्रीत्व और बचपन का वैधता-हरण हुआ, बल्कि वह वृद्धावस्था से भी उसकी वैधता छीनने का ज़िम्मेदार है। यहूदी-ईसाई विचार में हमेशा से ही एक धारा रही है जो मानती है कि कुदरती प्रक्रिया के तौर पर मनुष्य की उम्र बढ़ना दरअसल उसके अनिवार्य तौर पर पापात्मा होने का नतीजा है। बढ़ती उम्र के कारण होने वाले मानवीय शरीर के क्षय को यह चिंतन उसके भीतर बसने वाली बुराई का सूचक मानता है। इसके कारण एक ऐसी दुनिया की तस्वीर को अंतिम रूप मिला जिसमें केवल वयस्क पुरुष में ही आदर्श मानव की समुचित और निकटतम छवि देखी जा सकती थी।[13] उन्नीसवीं शताब्दी में, पश्चिमी देशों के साहित्य व पत्र-पत्रिकाओं में बच्चों को एक मासूम पीड़ित के रूप में दिखाया गया जिससे बाल-रक्षण मुहिम को बल मिला और बाल-मजदूरी समाप्त करने की आवाज़ बुलंद की गयी। यह माना गया कि अधिक से अधिक आर्थिक लाभ के लालच में हमने बच्चों के मासूम बचपन को समाप्त कर दिया है, अत: ऐसे क़ानूनों को बनाए जाने की आवश्यकता है जिससे बाल-मज़दूरी समाप्त हो, बच्चों की देखरेख हेतु अनाथालयों का निर्माण हो, बच्चों का अनिवार्य रूप से स्कूलों में दाख़िला कराया जाए। इसी काल में आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक बदलाव आये जिससे बालक के स्वास्थ्य व देखरेख संबंधी संहिता में अनेक बदलाव लाए गये।[14]

उन्नीसवीं सदी में बचपन की अवधारणा में आये बदलाव को औद्योगिक क्रांति के आईने में भी देखना पड़ेगा। इस क्रांति का शुरुआती दौर बच्चों से बेहद उत्पीड़नकारी और अमानवीय परिस्थितियों में काम लेने के लिए कुख्यात है। बाल-श्रम के जघन्य शोषण को रोकने के लिए 1833 के फ़ैक्ट्री एक्ट में नियम बनाया गया था कि नौ से कम आयु के बच्चों से तो काम ही नहीं कराया जा सकता और नौ से तेरह साल के बच्चों से एक दिन में आठ घंटे से ज़्यादा काम नहीं कराया जा सकता। इस एक्ट के अनुसार चौदह से अट्ठारह साल के बच्चे बारह घंटे से ज़्यादा काम नहीं कर सकते थे। इसी दौरान बच्चों के लिए हर दिन कम से कम दो घंटे स्कूल में पढ़ने की अनिवार्यता स्थापित की गयी। इसके बाद जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी का विकास हुआ, अपने छोटे दैहिक आकार के कारण जो काम बच्चों से करवाने पड़ते थे, उन्हें करने के लिए मशीनों का उपयोग होने लगा, और मशीनीकृत उद्योगों में बाल-श्रम के शोषण की उतनी मजबूरी नहीं रह गयी। लेकिन औद्योगिक क्रांति का बाल-श्रम से

---

[12] जॉन क्लार्क, वही.

[13] आशिस नंदी (1983) : 11-16.

[14] रॉबर्ट ए. लेवाइन (2007) : 247-260.

जुड़ा यह आख्यान इशारा करता है कि युरोप ने अपनी भौतिक समृद्धि के लिए बचपन की मासूमियत पर जो जघन्य अत्याचार किया, उसने इस समाज में एक तरह का अपराध-बोध पैदा किया होगा। जिसके परिणामस्वरूप बालकों से श्रम करवाने का प्रश्न नैतिकता-अनैतिकता के द्वंद्व का विषय बन गया होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्थापित इस अवधारणा में बचपन के ऊपर मुख्य रूप से जिस मासूमियत व नासमझपन को आरोपित किया जा रहा था, उसे एक फ्रॉयड के विमर्श द्वारा गम्भीर चुनौती मिली। उनके द्वारा प्रतिपादित शिशु संबंधी कामवासना के सिद्धांत ने बच्चे की भोली व अबोध छवि को प्रश्नांकित कर दिया। फ्रॉयड के व्यक्तित्व-विकास सिद्धांत के अनुसार वयस्क का व्यक्तित्व बाल्यावस्था की भिन्न-भिन्न अनुभूतियों द्वारा नियंत्रित होता है। जन्म के समय जो लैंगिक ऊर्जा बच्चों में विद्यमान होती है वह विभिन्न मनोलैंगिक अवस्थाओं से गुज़र कर विकसित होती है। फ्रॉयड के कई सूत्रीकरणों में सबसे बहुचर्चित विचार यह है कि चार से पाँच साल की अवस्था के दौरान लड़की में पितृ-मनोग्रंथि व लड़कों में मातृ-मनोग्रंथि के विकास के कारण पुत्र अपनी माता के प्रति यौनाकर्षण तथा पुत्री अपने पिता के प्रति यौनाकर्षण महसूस करती है। पुत्र पिता से और पुत्री माता से प्रतियोगिता में रहते हैं। वहीं ऐरिक एरिक्सन ने सम्पूर्ण मानव जीवन को आठ चरणों में विभक्त करते हुए प्रत्येक चरण की आवश्यकता को सार्वभौम रूप प्रदान करने का प्रयास किया।[15] हालाँकि इन दोनों मॉडलों को भी विविध सामाजिक समूहों में व्यक्तिगत, सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से निर्मित होने वाले विकास के परिप्रेक्ष्य में चुनौती मिल चुकी है।

बचपन का बदलता स्वरूप : औपनिवेशिक विमर्श

बचपन जिसे मुख्य रूप से मनो-शारीरिक विकास के आईने में समझा गया, वह दरअसल काल-विशेष में बदलते या थोपे गये मूल्यों व विश्वासों से भी निर्मित होता है। इसे भारत के संदर्भ में ख़ास तौर से समझा जा सकता है। इसके लिए भारत में अंग्रेज़ी शासन के दौरान मूल्यों व नैतिकता की संरचना में आये परिवर्तन को समझने की आवश्यकता है। औपनिवेशिक भारत में 1854 के पश्चात् ईसाई मिशनरी प्रयासों व शिक्षा के क्षेत्र में हुए अनेक प्रकार के बदलावों (मसलन आश्रम शिक्षा व्यवस्था के स्थान पर अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा देने वाले स्कूलों की स्थापना, निश्चित पाठ्यक्रम को निश्चित समय में पूरा कर परीक्षा को अनिवार्य बनाना, शिक्षा प्रक्रिया को पाठ्यपुस्तकों पर आधारित बना देना और विद्यालय के समय, पाठ्यचर्या, यूनीफ़ॉर्म व मूल्यांकन प्रविधि को निश्चित व स्तरीकृत कर देना) में सबसे महत्त्वपूर्ण बदलाव यह रहा कि शिक्षा का आधार माने जाने वाले अध्यापक/गुरुओं को वेतन प्राप्त करने वाले सरकारी मुलाज़िम के तौर पर नियुक्त कर दिया गया। जो अभी तक छात्र व समुदाय का क़रीबी था, यकायक उसकी हैसियत के स्वरूप में बदलाव आया और उसे समाज से अलग करके सरकार का नुमाइंदा बना दिया गया।[16]

शिक्षा प्रक्रिया में किया यह बदलाव मात्र शिक्षा जगत तक सीमित नहीं माना जा सकता, बल्कि इसके तार समाज व बचपन को निर्मित करने वाली परिस्थितियों से भी जुड़ते हैं। इस बदलाव के फलस्वरूप वयस्क-बालक संबंधों व मूल्यों में अनेक परिवर्तन हुए जिन्होंने भारतीय सम्भ्रांत वर्ग के ढाँचे एवं बचपन के संदर्भ को बड़े स्तर पर बदल दिया। भारत धर्म, जातीय पहचान और अन्य सांस्कृतिक बहुलताओं के कारण कई प्रकार के 'बचपनों' से सम्पन्न रहा है जिनके तहत लगातार

---

[15] जोसेफ़ एल. ज़ोरनैडो (2001) : 33.

[16] के. शहीदुल्ला (1996) : 119-34.

समुदाय के साथ अंत:क्रिया करते हुए भारतीय बालक को भावी वयस्क के रूप में विकसित होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इसमें बालक को परिवार व समुदाय की माँगों व दायित्वों के प्रति अधिक उत्तरदायी बनाने पर बल दिया जाता था। यह सिलसिला भारतीय बालक 'पारिवारिक स्व' के रूप में स्वयं को विकसित करने की तरफ़ ले जाता था, जबकि अंग्रेज़ी भाषा में शिक्षा की संरचना ने बालकों के जीने के तरीक़ों पर प्रभाव डाला व साथ ही बचपन की प्रक्रिया को नया आकार प्रदान किया। जहाँ भारतीय बचपन एक समाज या गाँव के निश्चित भूगोल और संस्कृति के भीतर अपनी पहचान पाता था, अब अंग्रेज़ी शिक्षा की चाह ने एक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक कर दिया कि वह न केवल अपने परिवार व गाँव से दूर सफ़र करे, बल्कि बेहतर जीवन की प्रत्याशा में वहीं बस भी जाए।[17] इस प्रकार बदलती परिस्थितियों में भारतीय विधार्थियों के जीवन में विद्यालयी प्राधिकार का प्रभाव बढ़ा, और परिवार व देशज समुदाय के नियंत्रण में कमी आयी।[18] साथ ही उस पर ईसाईयत के मूल्यों व तौर तरीक़ों को अपनाए जाने का भी दबाव पड़ा। ये मूल्य और तौर-तरीक़े आधुनिकता की भाषा में संसाधित करके उसे थमाए गये। ब्रिटिश तौर-तरीक़ों व शिक्षा से प्रभावित स्कूली व्यवहार व पारिवारिक मूल्यों में आये बदलावों ने कैसे भारतीय बचपन को प्रभावित किया, इसे हम दो विख्यात हस्तियों की जीवनी का विश्लेषण करके समझ सकते हैं।

आशिस नंदी ने अपनी विख्यात रचना *द इंटीमेट एनिमी* में रुडयार्ड किपलिंग व अरविंद घोष के बचपन की मानीख़ेज़ चर्चाएँ की हैं—

> किपलिंग का जन्म न केवल भारत में हुआ बल्कि उनका लालन पालन भी भारतीय माहौल और भारतीय नौकरों द्वारा किया गया था। वे हिंदुस्तानी में ही सोचते, महसूस करते और सपने देखते, मुख्य तौर पर उनका संवाद भी हिंदुस्तानियों से ही होता। भारतीय चीज़ों के प्रति अपने लगाव के मुक़ाबले अपने विक्टोरियन माता-पिता के साथ उनका रिश्ता दूर की नज़दीकियों वाला था। उनकी आत्मकथा के मुताबिक़ माँ-बाप से बात करते समय वे अपने सोच और सपनों की देशज भाषा से लड़खड़ाते हुए अनुवाद करते रहते थे। छह वर्ष की आयु के बाद उन्हें उनकी बहन के साथ इंग्लैण्ड भेज दिया गया। ... इंग्लैण्ड के साउथसी में बीते (अरविंद के) साल त्रासद थे। ऐसे बच्चे के लिए बोर्डिंग हाउस की यह दुनिया अकेलेपन और नफ़रत से भरी हुई थी जिसका लालन पालन कुदरत की उन नज़दीकियों में हुआ था जो अपने आगोश में समेट लेने के बावजूद आज़ादी का एहसास देती थीं। वहीं अरविंद एक्रॉयड घोष के पिता कृष्णधन इंग्लैण्ड से पढ़ कर आये डॉक्टर थे और सरकारी नौकरी करते थे। दोस्तों और रिश्तेदारों के बीच में उन्हें अपने अत्यंत मुखर अंग्रेज़ी तौर-तरीक़ों के लिए जाना जाता था। घर के भीतर भी बातचीत अंग्रेज़ी में ही करनी पड़ती थी। पोशाक और खान-पान भी अंग्रेज़ी था। पश्चिम अरविंद को कुछ दूसरे तरीक़े से भी उत्पीड़ित करता रहा। जब वे पाँच वर्ष के थे तो उन्हें दार्जिलिंग के एक पूरी तरह से पश्चिमीकृत और अभिजन कॉन्वेंट में पढ़ने के लिए भेजा गया जहाँ उनकी माँ की भूमिका एक अंग्रेज़ गवर्नेस ने निभाई। उस स्कूल में अधिकतर साथी गोरी चमड़ी के ही थे। अंग्रेज़ी ही शिक्षा का एकमात्र माध्यम थी, स्कूल के बाहर भी अंग्रेज़ी में ही संवाद करना होता था। अरविंद जब केवल सात वर्ष के थे तो माता-पिता द्वारा उन्हें उनके दो भाइयों के साथ इंग्लैण्ड भेज दिया गया। जहाँ वे रहते थे वहाँ इस बात की कड़ी हिदायत दी गयी कि इन बच्चों को किसी भी भारतीय के संपर्क में न आने दिया जाएँ। इन समस्त अनुभवों से घोष में अंतर्मुखी अवसाद का भाव पैदा हुआ। जिसकी चर्चा वे अपने लेखन में भी करते है। अंतत: अरविंद ने पश्चिम से निबटने के वैकल्पिक तरीक़े टटोलने और पिता के अंग्रेज़वाद द्वारा थमाए सफलता के मॉडल की अवज्ञा शुरू की, इसी दौरान उन्होंने अपने नाम एक्रॉयड को भी हटा दिया।[19]

---

[17] जे.ई. वाल्श (2003): 35-75.

[18] के. शहीदुल्ला (1996), वही.

[19] आशिस नंदी (1983), वही.

जहाँ भारतीय बचपन एक समाज या गाँव के निश्चित भूगोल और संस्कृति के भीतर अपनी पहचान पाता था, अब अंग्रेज़ी शिक्षा की चाह ने एक विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक कर दिया कि वह न केवल अपने परिवार व गाँव से दूर सफ़र करे, बल्कि बेहतर जीवन की प्रत्याशा में वहीं बस भी जाए। इस प्रकार बदलती परिस्थितियों में भारतीय विद्यार्थियों के जीवन में विद्यालयी प्राधिकार का प्रभाव बढ़ा, और परिवार व देशज समुदाय के नियंत्रण में कमी आयी।

किपलिंग व घोष के जीवन के आरम्भिक चरणों को इस दृष्टि से भी समझा जाना आवश्यक है कि कैसे एक अलग देश की संस्कृति से जुड़े बालक के लिए भारतीय वयस्कों के मध्य बीते जीवन के क्षण आनंदमय थे, वहीं घोष को इन सभी से वंचित रखा गया। भारत में और इंग्लैण्ड में भी भारतीयों से न मिलने की हिदायत इस ओर इशारा करती है कि न केवल ब्रिटिश लोगों ने बल्कि कई भारतीयों ने भी यह मान लिया था कि भारतीय तौर-तरीक़ों से विकसित हुए बचपन के ढाँचे में कहीं कमी है जिसे बदले जाने की आवश्यकता है। किपलिंग के माता-पिता भी इस बात से चिंतित रहते थे कि कहीं किपलिंग ऐसी जानकारी (विशेष रूप से यौन संबंधी) न पा जाएँ जो उनकी आयु के मुताबिक़ न हो और जिससे उसका मासूम-भोला बचपन अशुद्ध हो जाए। किपलिंग व अरविंद के जीवन को पढ़ना व उससे उपजे मार्मिक बचपन की आंतरिक पीड़ा को समझने के लिए यूरोपीय वर्चस्व के आधार पर वैधता प्राप्त निश्चित ढाँचे का बचपन की निर्मिति से क्या संबंध है—इसे समझा जाना आवश्यक है। नंदी के मुताबिक़ इसके अतिरिक्त उपनिवेशवादियों द्वारा अपनी वैधता को बनाए रखने के लिए उन विचारों का सहारा लिया गया जो उपनिवेशवाद के अनुकूल थे। उसने इन अनुभवों को प्रगति के मताग्रही खाँचे में फ़िट करने की कोशिश की। दूसरी तरफ़ पश्चिमी संस्कृति की विकृतियों के प्रति आवाज़ भी उठी। इन विकृतियों के प्रति सर्वाधिक सृजनशील अनुक्रिया उन लोगों की तरफ़ से आयी, जो उसके शिकार हुए। शैशव और राजनीतिक अधीनता के बीच औपनिवेशिक

सजातीयता का उत्तर गाँधी द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से दिया गया। नंदी इसे औपनिवेशिक नस्लवाद से जूझने के गाँधी के अपने तरीक़े के रूप में पेश करते हैं। उनके मुताबिक़ गाँधीवाद सिद्धांत ही नहीं आचरण में भी वयस्क-बालक संबंध प्रतिमान को चुनौती दे रहा था।[20]

मीडिया और बचपन

आदर्श बचपन के ढाँचे से संबंधित दूसरा पहलू मीडिया व कहानी-लेखन द्वारा प्रक्षेपित बचपन की छवि से जुड़ा है। यह समझना आवश्यक है कि मीडिया बच्चों, बचपन व बालक-वयस्क संबंध को किस रूप में दिखाता है। मसलन, 2014 में फ़िक्की की केपीएमजी रपट के अनुसार भारत में एक करोड़ 61 लाख घरों में टेलिविज़न की सुविधा है, जिसमें एक करोड़ 39 लाख घरों के टीवी केबल और सेटेलाइट से जुड़े हैं।[21] टेलिविज़न के विज्ञापनों व सीरियल्स में बच्चों की जो छवि दिखाई जाती है, वह यह बचपन के ढाँचे व उससे जुड़ी धारणाओं को समझने में मदद कर सकती है।

विज्ञापन में बच्चों व वयस्कों को भूमिका को समझने के लिए रवनीत कौर द्वारा किये गये शोध से स्पष्ट होता है कि विज्ञापनों में बच्चों को परिवार, खेल-मैदान, स्कूल इत्यादि के साथ अनेक संदर्भों में दिखाने के ज़रिये आदर्श बचपन व परिवार की थमाई गयी अवधारणा ही पुष्ट होती है। विज्ञापनों में बचपन को जीवन के ऐसे पल की तरह चित्रित किया जाता है जहाँ मासूमियत, सहजता, स्वतंत्र खोजी प्रवृति और खेल-कूद की भरमार होती है। मसलन, पार्ले जी बिस्कुट के विज्ञापन के बोल हैं : रोको मत, टोको मत, सोचने दो, खोजने दो ...।[22] इसमें बालक को जानने-खोजने-सीखने के लिए प्रोत्साहित किया गया है, वहीं वयस्कों की हैसियत यहाँ उनके लिए आवश्यक परिस्थितियाँ मुहैया कराने की है। पहली नज़र में इस विज्ञापन द्वारा बच्चों में भीतर से सीखने व खोज निकालने की प्रवृत्ति को रेखांकित करना रूसो के विचारों से प्रभावित लगता है।[23] दूसरा, विज्ञापनों में बालक-वयस्क के मध्य एक भेद भी दिखाई जाती है। बचपन को युवावस्था के एक लघु रूप की तरह देखा जाता है, जो शारीरिक व मानसिक दोनों दृष्टि से युवा बनने की तरफ़ बढ़ रहा है। मिल्क पाउडर के विज्ञापनों में इस छवि को स्पष्ट देखा जा सकता है। विज्ञापनों में बच्चों की निश्चित छवि को बारबार उभारे जाने के साथ-साथ माता-पिता की भी एक निश्चित भूमिका पर बल दिया जाता है। जैसे, जितने भी हेल्थ-ड्रिंक्स व भोज्य-पदार्थ के विज्ञापन होते हैं, उनमें माँ की भूमिका अहम होती है। वहीं जितने भी फ़ाइनेंस या भविष्य सुरक्षा संबंधी विज्ञापन हैं, उनमें पिता की भूमिका पर बल दिया गया है। इसके ज़रिये माँ को घर पर लगातार बच्चों की देख-रेख करने वाली व पिता को वित्तीय सुरक्षा प्रदान करने वाले के रूप में बल दिया जाता है। इस तरह एक तरफ़ बालक में मासूमियत, सरल सहज स्वभाव और खोजी प्रवृत्ति दिखायी जाता है, वहीं दूसरी तरफ़ बालक को सही राह पर रखने के लिए समाज के हस्तक्षेप की आवश्यकता पर भी बल प्रदान किया जाता है।[24]

सर्फ़ एक्सिल के एक विज्ञापन में एक लड़की कीचड़ में गिर कर रोती हुई दिखाई जाती है। उसका भाई कीचड़ से माफ़ी माँगने को कहता है। वह नाराज़ है कि कीचड़ ने उसकी बहन को तकलीफ़ पहुँचाई। इसी गुस्से में वह कीचड़ की पिटाई करता है और ख़ुद भी कीचड़ से भर जाता है, पर भाई-बहिन संतुष्ट हो कर हँसते हैं कि कीचड़ की पिटाई की गयी। विज्ञापन में अंत के बोल हैं : दाग अच्छे

---

[20] आशिस नंदी (1983), वही.

[21] एफ़आईसीसीआई-केपीएमजी (2014).

[22] रवनीत कौर (2015).

[23] बच्चों के पालन-पोषण संबंधी रूसो के विचारों के लिए देखें उनका विख्यात उपन्यास ज्याँ ज़ाक रूसो (1969), *एमिली,* बेसिक बुक्स, न्युयॉर्क.

[24] रवनीत कौर (2015), वही.

हैं। इस विज्ञापन में ज्याँ पियाजे के उस सिद्धांत को बल मिलता प्रतीत होता है जिसके तहत बताया गया है कि बालक का संज्ञानात्मक विकास बेहद निचले स्तर का होता है। पियाजे के मुताबिक़ एक आयु तक बच्चे जीवित और निर्जीव के बीच अंतर नहीं समझ पाते। उसके लिए पेड़ और खिलौने भी उतने ही सजीव होते हैं जीतने परिवार के सदस्य। इसी सिद्धांत के मुताबिक़ बालक एक आयु तक स्वयं को प्रत्येक परिघटना के केंद्र में मानते हैं। मसलन, एक बालक के लिए चाँद उसी के लिए उसके साथ चलता है। पियाजे का यह सिद्धांत बालक और वयस्क के मध्य के अंतर को पुष्ट करता है, और यह विज्ञापन भी बचपन की इसी समझ से उद्भूत है।[25] लॉक का विचार है कि बालक एक ख़ाली स्लेट के समान और वयस्क ज्ञान से लैस होता है। इसी के मुताबिक़ टीवी पर अभिभावकों द्वारा बच्चों को अच्छा और बुरा बताने वाले विज्ञापनों की बहार है। यह समाजीकरण का मॉडल है जिसमें अभिभावकों की भूमिका पर बल दिया जाता है। पेप्सोडेंट के विज्ञापन में बच्चा दाँतों की सड़न के कारण के बारे में पूछता है, और किसी वयस्क द्वारा उसका जवाब दिया जाता है। एचपी टेबलेट के विज्ञापन में एक बच्चे द्वारा पूछा जाता है कि चाँद पर इसका भार कितना होगा। फिर वयस्क उसकी शंका की पूर्ति करता है। इनके माध्यम से यह जताया जा रहा है कि बच्चे जानने के इच्छुक होते हैं और वह ज्ञान उन्हें किसी बड़े के माध्यम से प्राप्त होता है।[26] ज़ोर इस बात पर है कि बच्चे जानने के इच्छुक होते है पर ज्ञान प्रदान करने में किसी वयस्क का होना आवश्यक है। यहाँ ज्ञान-निर्माण के उस रूप को बेहतर तरीक़े से देखा जा सकता है जिसे फ्रेरे ज्ञान की बैंकिंग धारणा के रूप में प्रकट करते है।[27]

विज्ञापनों में बालक-वयस्क के मध्य भेद बचपन को युवावस्था के लघु रूप की तरह रेखांकित कर देता है। बच्चों को जैविक क्रम में बढ़ते हुए दिखाए जाने वाले विज्ञापन की मिसालें डाबर लाल तेल, जॉनसंस बेबी तेल, डिटोल, नैपी, हगीज़ इत्यादि के विज्ञापनों के रूप में सामने आती हैं। यहाँ लगातार शारीरिक रूप से बढ़ते शिशुओं की ज़रूरतों के हिसाब से उत्पाद ख़रीदे जाने पर बल दिया है। कुछ विज्ञापन ऐसे भी हैं, जैसे क्लीनिक प्लस वीटा तेल (जिसमें माता की थकान को दूर करने हेतु बेटी मालिश करती है) व विक्स का वह विज्ञापन जहाँ बच्चा माता को विक्स लगाता है। इनमें लगातार माता और बच्चे के मध्य गहरे संबंध को बल देने के साथ बच्चों की संवेदनशीलता भी प्रकट की जाती है। ये विज्ञापन सुधीर कक्कड़ के बचपन संबंधी विचारों की तरफ़ इशारा करते प्रतीत होते हैं।[28]

व्यावहारिक धरातल पर निर्मित होता बचपन

बचपन की अवधारणा से जुड़ा एक अन्य पक्ष है उसका व्यावहारिक पहलू, जो उस अकादमिक विमर्श के अनुकूल नहीं बैठता जिसकी चर्चा ऊपर विस्तार से की गयी है। यह पक्ष न केवल बचपन के प्रचलित ढाँचे पर प्रहार करता है बल्कि बचपन से जुड़ी मूल्य-रचनाओं भी प्रश्न-चिह्न लगाता है। वह विवाद बालक व बचपन की समझ से जुड़ी क़ानूनी समझ को अधूरा मानते हुए इसकी निर्मिति के सामाजिक-आर्थिक, लैंगिक व सांस्कृतिक पक्ष को अहमियत प्रदान करता है। यहाँ यह बिंदु इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर बालक की जो परिभाषा करता है, वह मात्र आयु के संदर्भ में ही है। यह परिभाषा सार्वभौम होने की दृष्टि से सरल है, परंतु विश्व के कई देशों व समाजों का बालक संबंधी यथार्थ इससे भिन्न है। इस दुनिया में बालक व बचपन की निर्मिति का निर्धारण मात्र आयु न हो कर जाति, लिंग, नृजातीय पहचान इत्यादि अपनी अहम भूमिका निभाते हैं। 1989 में

---

[25] ज्याँ पियाजे (1953), द *ऑरिजिन ऑफ इंटेलिजेंस इन चाइल्ड,* पेंगुइन एजुकेशन, लंदन.
[26] रवनीत कौर, (2015), वही.
[27] पॉलो फ्रेरे (1996), *उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र,* अनुवाद : रमेश उपाध्याय, ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली.रवनीत कौर (2015), वही.
[28] सुधीर कक्कड़ (1978).

संयुक्त राष्ट्र बाल अधिकार कन्वेंशन पारित किया गया जिस पर भारत सहित 190 देशों ने हस्ताक्षर किये।[29] बच्चों के अधिकारों का विमर्श और बाल-अधिकार संविदा की यह रूपरेखा जिस तरह सुनिश्चित की गयी है, उस पर कई आलोचक युरोकेंद्रित होने का इल्ज़ाम लगाते हैं जो काफ़ी कुछ सही है। उनका कहना है कि पश्चिमी अवधारणा पर आधारित विधिशास्त्र ने ही बाल-अधिकार संविदा को अंतिम रूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। संविदा में शामिल दो अनुच्छेदों के माध्यम से इसे समझा जा सकता है।

ये अनुच्छेद-28 और अनुच्छेद-32 हैं। अनुच्छेद-32 के अनुसार बच्चों को किसी भी आर्थिक गतिविधि में शामिल नहीं किया जाना चाहिए, उन्हें जोखिम भरे कामों से सुरक्षा मुहैया कराई जानी चाहिए और ऐसे किसी काम में न लगाया जाना चाहिए जिससे उनके शारीरिक, मानसिक, संवेदनात्मक विकास में या स्कूली गतिविधियों में रुकावट आये। यहाँ सवाल उठता है कि ख़तरनाक कामों की मनाही के साथ स्कूल को अनिवार्य बनाता हुआ यह अनुच्छेद पश्चिम के उस विचार से प्रभावित है जहाँ एकल परिवारों व माता द्वारा भी बाहर काम पर जाने की स्थिति के कारण क्रेच व स्कूल जैसी संस्थाएँ समाजीकरण करने वाली एकमात्र प्रभावी संस्था के तौर पर उभरती हैं। इसके विपरीत ग़ैर-पश्चिमी देशों का अनुभव पश्चिम से बहुत अलग है। वहाँ बचपन से वयस्क होने का क्रम बेहद लचीला और कम जोखिम भरा होता है। यहाँ बच्चों की दुनिया और बड़ों की दुनिया अलग-अलग नहीं होती और बच्चों से बड़े होने के क्रम को पारस्परिक पीढ़ी-दर-पीढ़ी आदान-प्रदान का हिस्सा माना जाता है। खेल और काम को एक दूसरे से अलग गतिविधि के तौर पर नहीं देखा जाता। ये दोनों आपस में इतने घुले-मिले होते हैं कि जिन्हें अलग-अलग करना बेहद मुश्किल होता है। कई अध्ययनों ने यह बताया है कि बच्चों द्वारा किया जा रहा कार्य बच्चे के आत्मविश्वास को बढ़ावा देता है। मसलन बांग्लादेश, इथोपिया, फिलीपींस इत्यादि देशों के छत्तीस बच्चों के समूहों पर हुआ अध्ययन बताता है कि बहुत से समूहों के लिए 'पैसे कमाना' और 'परिवार की मदद करना' कोई बुरी बात नहीं मानी जाती। इन समूहों का एक बड़ा वर्ग काम को गर्व, सम्मान, सामर्थ्य और प्रशिक्षण प्राप्त करने का स्रोत मानता है।[30]

वहीं अनुच्छेद-28 शिक्षा के अधिकार का वर्णन इस प्रकार करता है कि घर के बाद स्कूल ही ऐसा स्थान है जहाँ बच्चे के विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है। क्या यह विचार उन स्कूलों के यथार्थ को भी अपने दायरे में समेटे हुए है जो बेहद शोचनीय परिस्थितियों में चलाए जाने के कारण बालकों की सृजनशक्ति का ह्रास ही करते हैं? बच्चा इस चक्कर में अपने समुदाय विशेष के कौशल को सीखने से भी वंचित रह जाता है। स्कूल द्वारा कथित रूप से मिलने वाले शारीरिक, मानसिक, संवेदनात्मक सुरक्षा का तो कोई दावा ही नहीं किया जा सकता।

बहरहाल, बाल-अधिकार संविदा में 18 साल से कम उम्र के व्यक्ति को बच्चे के रूप में परिभाषित किया गया है। इस चर्चा से स्पष्ट है कि 'विशेषज्ञ' (आलोचकों के मुताबिक़ जो ज़्यादातर युरोपियन ही होते हैं) शहरी बचपन के एक ख़ास मॉडल को ध्यान में रखते हैं। यह ऐसा मॉडल है जो घर के सुरक्षित वातावरण पर आधारित है। उसमें एक पत्नी या माँ की लगातार उपस्थिति और दफ़्तरों, स्कूलों और दुकानों की शृंखला के अनुरूप एक दैनिक रूटीन अनिवार्य है,[31] परंतु गहराई से देखने पर यह निकल कर आता है कि भारत जैसे देश में जहाँ हर स्तर पर बहुलता है वहाँ बचपन व बालक

---

[29] युनिसेफ़ (2009).
[30] वासंती रमण (2000) : 4055-64.
[31] डी. वसंता (2004) : 5-29.

की निर्मिति भी समान न होकर भिन्नता लिए हुए है। जैसे जब एक आर्थिक स्तर पर सम्पन्न व कमज़ोर परिवारों के बच्चों की बात की जाती है तो यह कहना कठिन हो जाता है कि बचपन के निर्धारण में किस ढाँचे को मान्यता प्रदान की जाए, क्योंकि एक ग़रीब परिवार के बच्चे के लिए यह बहुत सामान्य सी बात है कि वह परिवार के जीवन निर्वाह हेतु घरेलू व्यवसाय व घर के अन्य कामों में मदद करेगा। ऐसी स्थिति के तहत बालक द्वारा किये कामों को 'आपत्तिजनक बाल-श्रम' में गिना जाना कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है। ऐसे परिवारों के बच्चे माता-पिता की अनुपस्थिति में घर का काम करते हुए घर की देखभाल व छोटे भाई बहनों की ज़िम्मेदारी के प्रति जल्द ही सजग हो जाते हैं। उनके लिए यह बहुत सामान्य बात होती है कि स्कूल से आने के बाद खाना बनाएँ, सफाई करें, शाम को माता-पिता के साथ बाज़ार में सब्ज़ी बेचने या रेहड़ी पर सामान बेचने में मदद करने भी जाएँ। वह हर वह कार्य करता/करती हैं जो वयस्क करते हैं। वहीं अत्यंत धनी परिवारों के बच्चों के लिए यह बहुत स्वाभाविक है कि वे अपने निजी कार्य भी स्वयं न करके नौकरों से करवाएँ।

ग़ैर-पश्चिमी देशों का अनुभव पश्चिम से बहुत अलग है। वहाँ बचपन से वयस्क होने का क्रम बेहद लचीला और कम जोखिम भरा होता है। यहाँ बच्चों की दुनिया और बड़ों की दुनिया अलग-अलग नहीं होती और बच्चों से बड़े होने के क्रम को पारस्परिक पीढ़ी-दर-पीढ़ी आदान-प्रदान का हिस्सा माना जाता है। खेल और काम को एक दूसरे से अलग गतिविधि के तौर पर नहीं देखा जाता। ये दोनों आपस में इतने घुले-मिले होते हैं कि जिन्हें अलग-अलग करना बेहद मुश्किल होता है। कई अध्ययनों ने यह बताया है कि बच्चों द्वारा किया जा रहा कार्य बच्चे के आत्मविश्वास को बढ़ावा देता है। मसलन बांग्लादेश, इथोपिया, फिलीपींस इत्यादि देशों के छत्तीस बच्चों के समूहों पर हुआ अध्ययन बताता है कि बहुत से समूहों के लिए 'पैसे कमाना' और 'परिवार की मदद करना' कोई बुरी बात नहीं मानी जाती। इन समूहों का एक बड़ा वर्ग काम को गर्व, सम्मान, सामर्थ्य और प्रशिक्षण प्राप्त करने का स्त्रोत मानता है।

इसी प्रकार भारत जैसे जेण्डर विभक्त समाज में एक बालक व एक बालिका के मध्य भी विवाद है। एक ही परिवार में एक लड़का अधिक समय तक बालक के रूप में देखा जाता है अर्थात् उसके बचपन की समय अवधि एक लड़की से अपेक्षा अधिक होती है। सामान्य परिवारों में लड़कियों की अपेक्षा की जाती है कि वह 10-12 वर्ष की आयु से दूसरे लिंग के लोगों के सम्मुख कम बोले, कम हँसे व सभ्य वयस्क की भाँति व्यवहार करे, ज़िद न करे, व अपने छोटे भाई-बहनों के प्रति मातृत्व वाली भावना व दया-प्रेम दिखाए। यहाँ बालिका के बचपन को एक अलग तरीक़े से निर्मित किये जाने का प्रयास किया जाता है, वहीं एक लड़के से वयस्क की भूमिका निर्वाह करने की उम्मीद 15-18 वर्ष के बाद ही की जाती है। कांचा इलैया इसका वर्णन करते हुए बताते हैं कि कुरुमा समुदाय में लड़के और लड़कियों का प्रशिक्षण किस प्रकार होता है। इस समुदाय के छोटे-छोटे लड़कों को भेड़पालन की गतिविधियों की भाषा सिखाई जाती है। वे सीखते हैं कि अलग-अलग भेड़ों को कैसे पहचाना जाता है, भेड़ों को किस तरह की बीमारियाँ हो सकती है, उन बीमारियों का कौन सी वनस्पतियों से इलाज किया जा सकता है, भेड़ों के प्रसव के समय क्या करना चाहिए आदि। लड़कियों को सिखाया जाता है कि बच्चों की देखभाल कैसे करें, मिर्च की पिसाई कैसे होती है, धान कूटना, ऊन से धागा बनाना, मिट्टी के बर्तन में खाना कैसे बनाया जाता है आदि। इस विवरण से यह पता चलता है कि कैसे एक ख़ास जाति/ वर्गीय समूह में लैंगिक

भूमिकाओं के आधार पर बचपन को अलग-अलग रूप से निर्मित किया जाता है।[32]

विमर्श की दृष्टि से बचपन को विश्लेषित करते हुए शारदा बालगोपाल भारत व बांग्लादेश में छह से चौदह साल के सभी बच्चों का स्कूल में नामांकन करने के अभियान का आलोचनात्मक अध्ययन करते हुए बताती हैं कि इन अभियानों को आधारभूत रूप से यह नैतिक स्वीकृति मिली हुई है कि औपचारिक शिक्षा बाल-श्रमिकों को सुरक्षा प्रदान करती है। बांग्लादेश में यह बात बेहिचक स्वीकार कर ली गयी है कि सड़क के सभी बच्चों की सभी दिक़्क़तों और कठिनाइयों का एकमात्र इलाज़ स्कूल है। यह नैतिक विमर्श बचपन की थमाई गयी धारणा को आदर्श मानने पर टिका है। बचपन के इस चश्मे से उसे तीसरी दुनिया के सड़क के बच्चे व बाल-श्रमिक अपना बचपन खो चुके दिखाई देते हैं। इन असामान्य बच्चों को सामान्य बनाने के उद्देश्य से यह कुछ सुधारात्मक उपाय सुझाता है, जिसमें सबसे अहम इन्हें स्कूल के दायरे में लाना है।[33] इस समझ से बाल-श्रम व शिक्षा के मध्य एक द्वंद्व उभर कर आता है, जिसे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हुए समझौते (जिसकी चर्चा डी. वसंता द्वारा भी की गयी है) बल प्रदान करते हैं। लेकिन ये विमर्श व अनिवार्यताएँ ग़ैर-पश्चिमी देशों में परिवार, बच्चे और बचपन की स्थानीय समझ पर किस हद तक प्रभाव डालते है— इसकी सामान्यत: उपेक्षा ही की जाती रही है।

नारीवादी-दृष्टि भी दिखाती है बचपन संबंधी बाल विकास संकल्पना मुख्य रूप से युरोपीय पितृसत्तात्मक विचार के आधार पर सार्वभौम बनाई गयी धारणा है। 95 फ़ीसदी संबंधित साहित्य मुख्यत: युरोपियनों और उनमें भी पुरुषों द्वारा लिखा गया है। कुछ भारतीय विद्वानों द्वारा किये गये शोध भी इस नज़रिये से प्रभावित दिखते हैं। मसलन, बिष्ट द्वारा 'बालक कौन है' नामक शोध बचपन की थमाई गयी पश्चिमी समझ को ही पुष्ट करती है जिसमें बच्चे वयस्कों पर निर्भर रहते हैं।[34] दुनिया के अस्सी फ़ीसदी बच्चों, जो दुनिया के अन्य भागों में रहते हैं, की परिस्थितियाँ प्रासंगिक तौर पर भिन्न हैं। वहाँ हर छह में से एक बच्चा भूख से पीड़ित है। सात बच्चों में एक बच्चे के पास कोई भी स्वास्थ्य संबंधी देख-रेख की सुविधा नहीं है। हर पाँच में से एक बच्चा अशुद्ध पानी पीने को मजबूर है। हर तीन में से एक बच्चे के पास शौचालय की व्यवस्था नहीं है। लगभग 12 करोड़ बच्चे प्राथमिक स्कूली शिक्षा से दूर हैं, जिसमें से अधिकतर लड़कियाँ है। लगभग 18 करोड़ बच्चे किसी न किसी प्रकार की मज़दूरी/श्रम से जुड़े हुए है।[35] आदिवासी विमर्श से जुड़े विद्वानों का यह मानना है कि भारत जैसे विविध भौगोलिक व सामाजिक परिदृश्य में बड़ी जनसंख्या में आदिवासी जनजाति समूह रहता है, जिनकी जीवन-शैली को लगातार प्रभावित किये जाने का प्रयास होता आ रहा है, प्रभावित करने का यह नियम एकतरफ़ा है, इसमें उनके ज्ञान व तौर-तरीक़ों को सामान्य रूप से अस्वीकार करने के साथ दोयम दर्जे का दर्ज कर लिया जाता है जिससे न केवल इनके विकास के रूप में बल्कि पहचान निर्माण में भी द्वंद्व की स्थिति बनी रहती है। मेधा पाटकर एक स्थान पर आदिवासी बच्चों के जीवन (जो आदर्श छवि से अलग है) को वर्णित करते हुए बताती हैं, 'इन आदिवासी बच्चों के पहाड़ी जीवन का प्राकृतिक परिवेश ऐसा है कि इन्हें अक्सर पहाड़ी चढ़कर ही शाला पहुँचना पड़ता है। इसके अलावा अपने निजी प्रयोजन के लिए भी रोज़ दो से चार बार चोटी-चोटी टेकड़ी (पहाड़ी) उतर कर नदी तक नहाने और पानी लाने जाना होता है (माता-पिता की उपस्थिति आवश्यक नहीं)। घर से मीलों दूर बंद कमरों की इमारतें अक्सर इनके अभिभावकों को व इन्हें आकर्षक नहीं लगती ... अनेक प्रयासों के

---

[32] कांचा इलैया (1995).

[33] शारदा बालगोपाल (2009).

[34] आर. बिष्ट (2008).

[35] युनिसेफ़ (2009), वही.

बावजूद ये स्कूलों से बाहर रहते हैं।'[36]

इन परिस्थितियों के मद्देनजर व्यवहारिक धरातल पर बचपन का रूप रेखांकित करना आवश्यक है। इन संदर्भों में बालक स्वयं अपने कार्य के लिए क्या धारणा निर्मित करते हैं? वे बचपन व बालक होने के भाव को किस प्रकार व्यक्त करते हैं। क्योंकि यही वे वास्तविक परिस्थितियाँ हैं जो समाज विशेष के बचपन को ठीक अर्थ में परिभाषित कर सकती हैं और इसी समझ के आधार पर समाधानों के सूत्रीकरण की उम्मीद की जा सकती है। अरिमा मिश्रा द्वारा दिल्ली की जहाँगीरपुरी बस्ती में कार्यरत बच्चों द्वारा बच्चा होने की समझ व श्रम के अर्थ को समझने हेतु किया अध्ययन यह बताता कि बच्चों के लिए बच्चा होना जैविक उम्र से अलग है। बच्चा होने की श्रेणी का निर्धारण संदर्भ के अनुसार बदल रहा है। ये बच्चे अपने कामों (सब्ज़ी साफ़ करना, साफ़-सफ़ाई में माँ बाप की मदद, सब्ज़ी लादना या उतारना आदि) ज़ायज़ मानते हैं। जायज़ इसीलिए कि माँ-बाप या व्यापारी इस काम के लिए उन्हें पैसे देते हैं। कुछ बच्चे सब्ज़ी चुनते हुए उसका एक हिस्सा अलग से अपने लिए निकाल लेते हैं जिसे बाद में बाज़ार में बेच कर अतिरिक्त पैसा कमाया जा सके। इसमें उन्हें चीज़ों की क़ीमत तय करने का मौक़ा मिलता है व इन पैसों से वे बड़ों जैसी आज़ादी महसूस करते हैं।

इस प्रकार यहाँ एक संदर्भ में वे बच्चे हैं जो वयस्कों के कहें मुताबिक़ कार्य करते हैं, वहीं दूसरे संदर्भ में कुछ बच्चे अपने काम का अर्थ ख़ुद गढ़ते हैं व निर्भरता के संबंध से मुक्त भी हो जाते हैं।[37] रजनी कोठारी के अनुसार 'भारतीय परिवार में प्राधिकार की संरचना बिखरी हुई होती है, भीड़ भरे माहौल में कुछ अलग और निजी होने के बारे में सोचना भी मुश्किल लगता है, कौटुम्बिक संबंध अंतरंग क़िस्म के होते हैं, संयुक्त और विस्तारित परिवार में पिता की हैसियत कई अन्य वरिष्ठों के बीच एक वरिष्ठ से ज़्यादा नहीं होती ... कुल मिला कर भारतीय परिवार का गठन किसी एक सर्वोच्च व्यक्ति के स्पष्ट प्राधिकार के आस-पास न हो कर मुख्यत: परस्पर निभाई जाने वाली ज़िम्मेदारी के संदर्भ में होता है। चाचाओं, मामाओं, बुआओं और दादा या नाना सरीखे कौटुम्बिक संबंधों के ज़रिये भारतीय बच्चे को किसी न किसी प्रकार अपनी माँगे पूरी करने का मौक़ा मिल ही जाता है ... परिवार में बच्चे की हैसियत उसके जन्म के आधार पर निर्धारित हो जाती है ...सचेत रूप से सीखने की उम्र आने पर बच्चे को इस विश्वास के तहत पाला जाता है कि वह औपचारिक निर्देशों के पालन के बजाय स्वयं देख-समझ कर ज़्यादा सिखता है ...परिवार में साफ़ तौर पर पीढ़ीगत या आयुगत फ़ासले न रखे जाने के कारण बिलाना और चलना सीखते ही बच्चा वयस्क जीवन की संरचनाओं में घुल-मिल जाता है ... औपचारिक शिक्षा शुरू होने से पहले बच्चे को वयस्क जीवन की गतिविधियों से अलग रखने की कोशिश नहीं होती। वह वयस्कों की तरह देर तक जागता रहता है। बड़े चर्चा करते रहते हैं जिससे बच्चे को अलग रखने की कोई विधि नहीं अपनाई जाती। कुल मिला कर भारतीय परिवार में बच्चा इतिहास की कालातीत और चक्रीय गति के अंग की तरह विद्यमान रहता है। अन्य संस्कृतियों की तरह रैखिक और समय द्वारा सीमित प्रतीकों से उपजने वाले संयम से भारतीय बच्चे का साबक़ा कम ही पड़ता है।'[38]

शिक्षाई निहितार्थ और ज्ञान की समस्या

इस पूरे विमर्श को मैं मुख्य रूप से भारत में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था की ख़ामियों के साथ जोड़ कर भी देखने की इच्छुक हूँ। इसी इच्छा ने मुझे प्रेरित किया कि मैं समुदाय विशेष में निर्मित होते बचपन को

---

[36] मेधा पाटकर (2011) : 5-25

[37] अरिमा मिश्रा (2007).

[38] रजनी कोठारी (2003).

समझ सकूँ। इस दौरान मुझे दिल्ली में रहने वाले कुम्हार व लुहार समुदाय के वयस्कों और बच्चों के बीच जाने का मौक़ा मिला। इन समुदायों से हुए साक्षात्कार से प्राप्त आँकड़ों का विश्लेषण कुछ महत्त्वपूर्ण बिंदुओं पर प्रकाश डालता है— जैसे इन समुदायों के बालकों के लिए समाज एक बाहरी संस्था न होकर उनके रोज़मर्रा के जीवन का हिस्सा है। इन समुदाय के बालकों के साथ ऐसा नहीं है कि उम्र एक पड़ाव पर आकर यकायक समाज व समाज के मूल्यों का महत्त्व उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं से अलग व महत्त्वपूर्ण होगा। जबकि शहरों के वे परिवार जहाँ सामुदायिकता इतनी सक्रिय नहीं है, उन परिवारों के बच्चों के लिए व्यक्तिगत पहचान उनकी सामाजिक पहचान से अलग व विलग होने की सम्भावना हो सकती है। दूसरा, इन समुदायों में बच्चों को लगातार उनकी सामाजिक हिस्सेदारी का अहसास कराया जाता रहा है जैसे पारिवारिक फ़ैसलों में भागीदारी करना इत्यादि। तीसरा, स्कूली शिक्षा का बढ़ता प्रभाव इन समुदायों की तीसरी पीढ़ी के लिए द्वंद्व के रूप में उभर रहा है। स्कूली ज्ञान व पारम्परिक कौशल के मध्य स्पष्ट भेद इन बालकों के लिए दुविधा की परिस्थितियों को पैदा करता है। आर्थिक रूप से हानि के चलते व इन व्यवसायों को आदर नहीं मिलने के कारण इस कौशल से मिलने वाली पहचान के प्रति नीरसता का भाव पैदा होना आरम्भ हो गया है। वहीं शिक्षा प्रणाली में इनके ज्ञान (एक बालक द्वारा घड़ा बनाने की कला जानना स्कूल में शर्म का कारण) को शामिल न करने से स्कूली ज्ञान व घरेलू ज्ञान के मध्य की खाई में ये बालक ख़ुद को द्वंद्व की स्थिति में पाते हैं।

ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण शिक्षा प्रक्रिया पर यह सवाल उठता है आख़िर क्यों 'स्वीकृत ज्ञान' व निश्चित पाठ्यचर्या को ही शिक्षा का पर्याय माना लिया जाता है। यह प्रश्न पुनः उस 'आदर्श' की तरफ़ इशारा करता है, जिसका निर्माण कुछ वर्चस्वी धारणाओं के आधार पर हुआ है। 2011 की जनगणना में भारत में लगभग आठ करोड़ आदिवासी हैं, जो जनसंख्या का आठ प्रतिशत है और ये 635 आदिवासी समूहों में बँटे हुए हैं। जिनके जीवन का जीने का तरीक़ा, आस्था, विश्वास व रवैये में विभिन्नताएँ मौजूद हैं। परंतु राष्ट्रीय पाठ्यचर्या के स्वरूपों में इनके ज्ञान या जीवन-शैली को कितना सम्मानजनक समावेशन मिलता है, यह संदेहजनक ही है।[39] ज्ञान व वर्चस्व की इस लड़ाई पर चर्चा करते हुए कृष्ण कुमार अपनी विख्यात पुस्तक *शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व* में बताते हैं कि समाज में जिन तबक़ों का वर्चस्व है वे शिक्षा और विशेषकर पाठ्यक्रम का इस्तेमाल यह सुनिश्चित करने में कर सकते हैं कि उनकी आवाज़ों के अलावा बाक़ी सभी आवाज़ें इतनी नाकाफ़ी, कमज़ोर और बिगड़े रूप में आएँ कि उनकी अपील नकारात्मक हो जाए और पाठ्यक्रम के विमर्श में उनके लिए जगह न रह जाए। जिन तबक़ों की शिक्षा तक पहुँच नहीं होती, उनके द्वारा ज्ञान उत्पादित और संरक्षित ज्ञान स्कूल में पढ़ाए जाने योग्य नहीं समझा जाता। जैसे मध्य प्रदेश में स्थित बैगा जनजाति के मिथकों को भला कौन महत्त्वपूर्ण शैक्षिक ज्ञान की संज्ञा देगा जिनके आधार पर बैगा लोग मानते हैं कि यह दुनिया कैसे बनी होगी? उसी तरह भारत के मध्य भागों के जंगलों से अपने प्राचीन परिचय के आधार पर बैगा लोगों ने जानवरों के व्यवहार का जो ज्ञान हासिल किया है उसे शायद ही शिक्षा के दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ज्ञान माना जाएगा। हिंदुस्तान के बच्चों के लिए शिक्षा की दृष्टि से मान्य ज्ञान में बैगाओं के पौराणिक ज्ञान को जगह दी जाए या नहीं, यह सवाल इस बात से जुड़ा है कि ख़ुद बैगा समुदाय की शिक्षा तक कितनी पहुँच है और शिक्षा में उनकी कितनी उपलब्धि रही है।[40] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पाठ्यपुस्तकों में इन बालकों के अनुभवों व ज्ञान को शामिल न करने के कारण भी ये वर्ग स्कूली ज्ञान को अपने निजी अनुभवों से अलग-थलग महसूस करता है व स्वयं को अलगाव की स्थिति में खड़ा पाता है। इसी प्रकार छात्र क्या सीखता है, यह सवाल स्कूल की पढ़ाई के संदर्भ में इतना अहम नहीं है जितना यह

---

[39] जनगणना, 2011 के आँकड़े, www.censusindia.gov.in/default_hindi.aspx पर उपलब्ध.

[40] कृष्ण कुमार (1998).

सवाल कि कौन सीखता है और कौन सीख नहीं पाता है। एक अध्यापक द्वारा किसी पाठ को जब ऐतिहासिक तथ्यों के पुलिंदों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो इस बात का कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि छात्रों की सामाजिक पृष्ठभूमि क्या है और यह पृष्ठभूमि किन दृष्टिकोणों को आकार देती है। इस संदर्भ में एपल का कहना है कि ज्ञान के चुनाव, पाठ्यचर्या और आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के नियंत्रण और प्रबंध के बीच में एक स्पष्ट संबंध है।[41] 'स्वीकृत' ज्ञान व उसे निश्चित ढाँचे के अंतर्गत प्रदान करने की मानसिकता के चलते शिक्षक अपनी ज़िम्मेदारी से बचते हैं। वे विभिन्न समुदायों के बच्चों के नज़दीकी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा भौतिक माहौल और स्कूली माहौल के मध्य उत्पन्न अलगाव को बिना झिझक स्वीकार कर लेते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि स्कूली अनुभवों के दौरान बालकों के सम्मुख कई ऐसी समस्याएँ आती हैं जिनका सरोकार उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से होता है। इन परिस्थितियों का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव उनके स्कूली जीवन पर पड़ रहा होता है। ऐसे में शिक्षक के लिए आवश्यक है कि वह बालक व उनकी ज़रूरतों को उनके संदर्भ से समझे ताकि एक बेहतर शिक्षण वातावरण का निर्माण किया जा सके। इस प्रकार के वातावरण निर्माण के लिए आवश्यक है कि पूर्व-शिक्षण व सेवारत प्रशिक्षण दोनों में बचपन को एक निर्मित होते विमर्श के तौर चर्चा का विषय बनाया जाए व बालक व उसकी समस्याओं को समझने के आयु के संदर्भ के साथ ही उसके सामाजिक-सांस्कृतिक, आर्थिक व लैंगिक संदर्भों के प्रति भी संवेदनशील किया जाए ताकि शिक्षक वर्ग बचपन को विविध आयामों से समझ पाने में समर्थ हो। इसी समझ के साथ संदर्भों में निर्मित होने वाले ज्ञान के रूप व महत्त्व की चर्चा भी शिक्षा जगत की उत्कृष्टता के लिए आवश्यक है। नीति निर्माण के समय केवल इन विविध प्रकार के ज्ञान को शामिल कर के ऐसी पाठ्यचर्या का निर्माण सम्भव किया जा सकता है, जिसमें स्कूली ज्ञान व सामाजिक कौशल एक दूसरे से भिन्न व अलग, खेल व ज्ञान अर्जन एक दूसरे के विरोधी न हो कर एक दूसरे के सहयोगी होंगे। इसी तरह की कल्पना जॉन ड्यूवी ने की है जिसके केंद्र में लघु समाज रूपी स्कूलों की रचना है।[42]

निष्कर्ष

मैं समझती हूँ कि मेरा यह लेख बचपन से जुड़ी ज्ञान की राजनीति के विमर्श पर एक सीमा तक प्रकाश डालने में सक्षम हुआ है। साथ ही इसके विश्लेषण ने इस विमर्श और भारत जैसे देशों में यथार्थ के धरातल पर पनपते बचपन के बीच स्पष्ट अंतर्विरोध को भी रेखांकित कर दिया है। मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि मेरे इस प्रयास का उद्देश्य बचपन की पश्चिमी अवधारणा को कमतर बता कर पूर्व की किसी अवधारणा को बेहतर बताते हुए स्थापित करना नहीं है। मक़सद सिर्फ़ यह दिखाना है कि भारतीय समाज की व्यावहारिक ज़मीन पर बन-बिगड़ रहे बचपन के व्यावहारिक रूपों पर मूल-निर्णय देते समय हमारे मानस पर पश्चिमी विमर्श की एकतरफ़ा छाप किस तरह के अंतर्विरोध को जन्म देता है।

यह कोई मामूली अंतर्विरोध नहीं है, बल्कि इसकी लगातार अनसुलझी मौजूदगी के कारण हमारे सामाजिक जीवन और नीति-निर्माण के सभी क्षेत्रों पर विपरीत असर पड़ा है। प्राथमिक शिक्षा से लेकर पारिवारिक जीवन तक में यही अंतर्विरोध व्याप्त है। यह लेख ज़ोर दे कर कहता है बचपन को मानव-जीवन के मात्र आरम्भिक चरण के रूप में न देख कर एक व्यक्तित्व की निरंतर चलने वाली निर्मिति के संदर्भ में समझना आवश्यक है। इस निर्मिति की कार्यशाला पारिवारिक वयस्कों और स्कूली

---

[41] माइकल ऐपल (1990).
[42] जॉन ड्यूवी (1897).

शिक्षकों की वर्चस्वी उपस्थिति तक सीमित नहीं है, बल्कि समाज के सभी आयाम मिल कर उसका रूप सुनिश्चित करते हैं। यह सही है कि अवधारणा के रूप में हालाँकि यह एक नया विमर्श है, परंतु आवश्यकता इस विमर्श के अतीत को खोजने की भी है ताकि बचपन के विमर्श से जुड़ी आज की राजनीति को उसके बरअक्स रख कर समझा जा सके। मसलन लेख में बाल-अधिकार संविदा और युरोपीय विचारों के वर्चस्व के मध्य संबंध दिखाने का प्रयास किया गया है। एशियाई देशों द्वारा इस आयाम की तरफ़ इंगित भी किया जाता रहा है। इसकी उपेक्षा करते हुए अगर हम बचपन की थोपी गयी आदर्श समझ (जिसमें स्कूलों, बाज़ारों और अभिभावकों की अनिवार्य उपस्थिति को आधार बना कर वयस्क-बालक के मध्य पदसोपानीय दर्जे को आधार बनाया जाता है) पर चलते रहेंगे, तो भारतीय यथार्थ हमेशा के लिए एक बेहद हानिकारक अंतर्विरोध की मातहती के लिए अभिशप्त हो जाएगा। इसके लगातार बने रहने के कारण भारत की शिक्षा-व्यवस्था काफ़ी क्षतिग्रस्त हो चुकी है। इसी कारण से ज्ञान का वैध रूप भारत के एक बड़े वर्ग के ज्ञान को अपने दायरे में शामिल करने से लगातार इंकार करता रहता है और इसके फलस्वरूप विभिन्न समुदायों के बच्चों के जीवन की द्वंद्वात्मकता नकारात्मक होती रहती है।

बचपन को सार्वभौम दिखा कर किसी भी वर्चस्वी विचारधारा के लिए यह बेहद सरल हो जाता है कि वह जीवन जीने के अपने तरीक़े को सामान्य व आदर्श की तरह स्थापित कर दे। लेख विमर्श की इस राजनीति को जवाब देते हुए बचपन की ऐतिहासिक पड़ताल को सामने रखता है और यह भी बताता है कि औपनिवेशिक विचार के दबाव में बचपन के विविध भारतीय रूप किस तरह प्रभावित हुए। इसी तरह हम यह वास्तविकता भी नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते कि बाज़ार द्वारा की जाने वाली बचपन की निर्मिति, मीडिया के दबाव और साहित्य के अन्य रूप का किस तरह बचपन के आदर्श रूप को सामान्य व सार्वभौम बनाने में मदद करते हैं। भारत जैसे विविधता भरे देश के लिए यह और भी लाज़िमी हो जाता है कि वह किसी निश्चित ढाँचे को वैसा का वैसा स्वीकार करने से पूर्व अपने संदर्भों में उसकी जाँच कर ले। बचपन की किसी थमाई गयी निर्मिति का यह दावा कि वह आधुनिकता की कसौटी और संवेदनशीलता की कसौटी पर, अन्य निर्मितियों के मुक़ाबले खरा है, भी अपने आप में विचारणीय है।

भारत की सामुदायिक-सांस्कृतिक विभिन्नता के यथार्थ में बचपन के किसी एक रूप को श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता। पालन-पोषण के भी किसी एक तरीक़े को प्राथमिकता नहीं दी जा सकती। अन्य प्रक्रियाओं की भाँति बचपन की प्रक्रिया भी समाज विशेष की परिस्थितियों से प्रभावित होते हुए निर्मित होती है। यदि हम उसे सामाजिक परिस्थितियों से बिल्कुल पृथक् करके निर्मित कर भी दें तब भी बच्चे को रहना समाज में ही होगा। ऐसे में उसके और समाज के मध्य जो अंतर्विरोध पैदा होगा वह समाज को अनिश्चितता और परिणामस्वरूप कुछ अनपेक्षित विकृतियों की तरफ़ ले जा सकता है। यह चिंता नयी नहीं है। ऐसे अंदेशों की तरफ़ पहले भी ध्यान दिया गया है और एमील दुर्खाइम ने अपने सुविख्यात लेख 'शिक्षा का स्वरूप और उसकी भूमिका' में इस तरफ़ इशारा किया है।[43]

[43] एमील दुर्खाइम (2008).

संदर्भ

अरिमा मिश्रा (2007), 'दिल्ली की एक बस्ती में रोज़मर्रा की ज़िंदगी बच्चों की नज़र से', अनु. योगेंद्र दत्त, क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केंद्र, केंद्रीय शिक्षा संस्थान, दीपक कुमार बेहरा (सं.), *चाइल्डहुड इन साउथ एशिया,* लॉन्गमेन, नयी दिल्ली.

आर. बिष्ट (2008), 'हू इज़ अ चाइल्ड? : द एडल्ट्ज़ पर्सपेक्टिव विदिन एडल्ट-चाइल्ड रिलेशनशिप इन इण्डिया', *इंटरपर्सनल,* खण्ड 2, अंक 2.

आशिस नंदी (1983), *द इंटीमेट एनिमी : लॉस ऐंड रिक़वरी ऑफ़ सेल्फ़ अंडर क़ोलोनियलिज़म,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

एफ़आईसीसीआई-केपीएमजी (2014), *इण्डियन मीडिया ऐंड इंटरटेनमेंट इंडस्ट्री रिपोर्ट* http://www.kpmg.com पर उपलब्ध.

एमील दुर्खाइम (2008), 'शिक्षा का स्वरूप और उसकी भूमिका', सुरेशचंद्र शुक्ल एवं कृष्ण कुमार (सं.), *शिक्षा का समाजशास्त्रीय संदर्भ,* ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली.

कंचन शर्मा (2014). 'आख़िर बालक कौन? क़ानूनी उलझनें और बच्चों का भविष्य', *शिक्षा विमर्श,* नवम्बर-दिसम्बर.

कृष्ण कुमार (1998), *शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व,* ग्रंथशिल्पी,नयी दिल्ली.

कांचा इलैया (1995), *व्हाई आई एम नॉट अ हिंदू,* साम्य, कोलकाता.

के. शहीदुल्ला (1996), 'द परपज़ ऐंड इम्पेक्ट ऑफ़ गवर्नमेंट पॉलिसी ऑन पाठशाला गुरुमोहशोयज़ इन नाइंटींथ सेंचुरी बंगाल', *द ट्रांसमिशन ऑफ़ नॉलेज इन साउथ एशिया: एसे ऑन एजुक़ेशन, रिलीजन, हिस्ट्री, ऐंड पॉलिटिक्स* : 119-34.

जनगणना, 2011 के आँकड़े, www.censusindia.gov.in/default_hindi.aspx पर उपलब्ध.

ज्याँ पियाजे (1953), *द ऑरिजिन ऑफ़ इंटेलिजेंस इन चाइल्ड,* पेंगुइन एजुकेशन, लंदन.

जॉन क्लार्क द्वारा रचित *हिस्ट्रीज़ ऑफ़ चाइल्डहुड* का पहला अध्याय, http://www.blackwellpublishing.com/content/bpl पर उपलब्ध.

जॉन ड्यूवी (1897), 'एक्सपीरिएंस ऐंड एजुकेशन', *स्कूल जर्नल,* खण्ड 54, जनवरी.

जे.ई. वाल्श (2003), 'इंग्लिश एजुकेशन ऐंड इण्डियन चाइल्डहुड ड्यूरिंग द राज, 1850-1947', *एजुक़ेशन डायलॉग,* खण्ड 1, अंक 1: 35-75.

जे. बॉयडन (1990), *चाइल्डहुड ऐंड द पॉलिसी मेकर्स : अ कम्परेटिव पर्सपेक्टिव ऑन द ग्लोबलाइज़ेशन ऑफ़ चाइल्डहुड,* द फल्मेर प्रेस, लंदन.

जोसेफ़ एल. ज़ोरनैडो (2001), इन्वेंटिंग द चाइल्ड, कल्चर, आइडियोलॅजी ऐंड स्टोरी ऑफ़ चाइल्डहुड, गारलेंड पब्लिशिंग, न्युयॉर्क.

डी. वसंता (2004), 'चाइल्डहुड, वर्क ऐंड स्कूलिंग : सम रिफ़्लेक्शंस', *कंटेम्परेरी एजुक़ेशन डायलॉग,* खण्ड 2, अंक 1.

पॉलो फ्रेरे (1996), *उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र,* अनुवाद : रमेश उपाध्याय, ग्रंथशिल्पी, नयी दिल्ली.

फ़िलिप एरीज़ (1962), *सेंचुरी ऑफ चाइल्डहुड,* रेण्डम हाउस, न्युयॉर्क.

फ़ोकस रिपोर्ट (2006), अनुवाद : अरविंद मोहन, सिटीज़ंस इनिशिएटिव फॉर द राइट ऑफ़ चिल्ड्रन अण्डर सिक्स, नयी दिल्ली.

माइकल ऐपल (1990), *आइडियोलॅजी ऐंड करीकुलम,* रौटलेज, दूसरा संस्करण, न्युयॉर्क.

मेधा पाटकर (2011), 'समाजीकरण बनाम शिक्षा की राजनीति', *भारतीय आधुनिक शिक्षा,* खण्ड 31, अंक 3.

युनिसेफ़ (2009), *कन्वेंशन ऑन द राइट्स ऑफ़ द चाइल्ड,* http://www.unicef.org/crc/ पर उपलब्ध.

रजनी कोठारी (2003), 'राजनीतिक संस्कृति और भारतीय व्यक्तित्व की राजनीतिक शख़्सियत का विकास' अभय कुमार दुबे (सं.), *राजनीति की क़िताब,* लोक-चिंतक ग्रंथमाला, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

रॉबर्ट ए. लेवाइन (2007), 'एथनोग्राफ़िक स्टडीज़ ऑफ़ चाइल्डहुड : अ हिस्टोरिकल ओवरव्यू', *इन फ़ोकस: चिल्ड्रन, चाइल्डहुड ऐंड चाइल्डहुड स्टडीज़,* खण्ड 101, अंक 2.

वासंती रमण (2000), 'पॉलिटिक्स ऑफ़ चाइल्डहुड : पर्सपेक्टिव्ज़ फ्रॉम द साउथ', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 35, अंक 46.

रवनीत कौर (2015), 'रिप्रज़ेंटेशन ऑफ़ चिल्ड्रन ऐंड चाइल्डहुड इन इण्डियन टेलिविज़न एडवर्टाइज़मेंट', *चाइल्डहुड टुडे,* खण्ड 9, अंक

शारदा बालगोपाल (2009), 'भविष्य की यादें : बच्चे, श्रम और औपचारिक शिक्षा का रामबाण', *जर्नल ऑफ़ हिस्ट्री ऑफ़ चाइल्डहुड ऐंड यूथ,* खण्ड 2, अंक 1, जॉन हॉपकिंस युनिवर्सिटी, अनुवाद : विजय झा, क्षेत्रीय प्रारम्भिक शिक्षा संसाधन केंद्र, केंद्रीय शिक्षा संस्थान.

सुधीर कक्कड़ (1978), *द इननरवर्ल्ड : ए साइको-एनालिटिक स्टडी ऑफ चाइल्डहुड एंड सोसाइटी इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

विक्टोरिया फ्राइज़ रीडर (2014), 'द सोशल कंस्ट्रक्शन ऑफ़ एज ऐंड आइडियोलॉजी ऑफ़ स्टेज', *सोसियोलजी ऐंड सोशल वेलफ़ेयर,* खण्ड 6, अंक 5, जॉर्ज मेसन युनिवर्सिटी, न्युयॉर्क.